रा. वि. पाठक

रघुवीर चौधरी

भारतीय
साहित्य के
निर्माता

H
891.478
C 393 R
C 393R

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ – रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनाकोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

रा. वि. पाठक

लेखक
रघुवीर चौधरी

साहित्य अकादेमी

R. V. Pathak (रा. वि. पाठक) :
Monograph on Gujarati Writer by Raghuveer Chaudhari.
Sahitya Akademi, New Delhi (2003), Rs. Twenty five

© Sahitya Akademi
First Edition : 2003

Library IIAS, Shimla
H 891.478 C 393 R
00117613

Published by :
Sahitya Akademi

Head Office :
Rabindra Bhavan, 35, Ferozeshah Road, New Delhi - 110 001

Sales Department :
Basement in 'Swati', Mandir Marg, New Delhi - 110 001

Regional Offices :
172, M.M.G.S.Marg, Dadar (East), Mumbai - 400 014
Jeevan Tara, 23A/44X, Diamond Harbour Road, Kolkata - 700 053
Central College Campus, Dr.Ambedkar Veedhi, Bangalore-560 001

Chennai Office :
C.I.T.Campus, T.T.T.I.Post, Taramani, Chennai - 600 113

ISBN : 81-260-1671-X

117613
16/12/04
SHIMLA

मूल्य : 25 रुपये

Typeset at : Omkar Computers,Pt.Deen Dayal Marg, Dombivli (W).

Printed at : New Age Printing Press, 85 Sayani Road, Mumbai - 400 025

अनुक्रम

1.	साहित्य क्षेत्र के माली : रा. वि. पाठक	1
2.	कविता	9
3.	कहानी	16
4.	निबंध	25
5.	समीक्षा	36
6.	नाटक तथा अनुवाद	42
7.	बृहत् पिंगल	44
	संदर्भ–सूची	47

1

साहित्यक्षेत्र के माली : रा. वि. पाठक

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का गुजराती साहित्य गांधीजी की जीवनदृष्टि और ब. क. ठाकोर की कलादृष्टि से प्रभावित है। ये दोनों महानुभाव सही परिप्रेक्ष्य में गुजराती साहित्य को उपकृत कर पाए इसमें एक तीसरे महानुभाव का भी योगदान है। वे हैं रा. वि. पाठक, जितने बड़े सर्जक उतने ही बड़े चिन्तक। हिन्दी समीक्षा और निबन्ध के क्षेत्र में जो स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है, ठीक वैसा ही स्थान गुजराती साहित्य में रा. वि. पाठक का है। उन्नीसवीं शताब्दी में नवलराम पंड्या थे; बीसवीं शताब्दी में रा. वि. पाठक। सभी साहित्यकार उन्हें समादर के साथ पाठक साहब कहते थे। वे कहानीकार, निबन्धकार, समीक्षक, कवि, छन्दशास्त्री होने के साथ विरल हास्यकार भी थे। सभी कलाओं तथा जीवनचिंतन के सभी पहलुओं के प्रति वे स्वभावत: अभिमुख थे। वे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे।

रामनारायण विश्वनाथ पाठक (जन्म ता. 8-4-1887, निधन ता. 21-8-1955) सौराष्ट्र के भाळोद गाँव के निवासी थे। भाळोद तथा माता आदित्यबाई का गाँव गाणोल – दोनों धोलका तहसील के छोटे गाँव हैं जो अहमदाबाद की दक्षिण दिशा में करीब 60 किलोमीटर की दूरी पर बसे हुए हैं। रा. वि. पाठक की जाति प्रश्नौरा नागर कहलाती है जो विद्वत्ता एवं गरीबी के लिए विख्यात है। अधिकांश प्रश्नोरा नागर आयुर्वेद भी जानते हैं।

पिता विश्वनाथ शिक्षक थे। संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने धर्मग्रंथों के गुजराती अनुवाद किये थे। उत्तर अवस्था में विश्वनाथ ने संन्यास ग्रहण किया था। माता आदित्यबाई अनुशासन एवं धर्म-सदाचार के विषय में आग्रही थीं। माता का उग्र स्वभाव पुत्र को विरासत में न मिला, शील मिला, पिता की विद्या मिली।

पिताजी सातवीं कक्षा में 'दलपत पिंगल' पर आधारित छंदशास्त्र सिखाते थे। उस वक्त बालक रामनारायण घर के कमरे की दहलीज पर बैठते, पिताजी कक्षा में जो पढ़ाते उसे सुनते रहते। इस छंदशास्त्र के श्रवण के विषय में उन्होंने लिखा है। —

"सारा 'दलपत पिंगल' उसके मात्रिक छंदों और तालों के साथ मुझे आत्मसात हुआ। ... मेरी माताजी पढ़ीलिखी नहीं थीं परन्तु उन्हें लोकगीत और देशी रचनाओं का बहुत

अच्छा ज्ञान था। मैं मानता हूँ कि मैं उनसे वे गीत सही ताल के साथ सीखा हूँ।'' (पृ. २, रामनारायण वि. पाठक परिशीलन ग्रंथ)

रामनारायण पिता की पाँच संतानों में ज्येष्ठ थे। विश्वनाथ ने कुछ समय तक बटुक भैरव की उपासना की थी अत: बालक रामनारायण को बटुभाई नामसे भी पहचाना जाता था। इन्होंने शालेय शिक्षा जेतपुर, राजकोट, जाम खंभाळिया और भावनगर के छोटे-बड़े नगरों में प्राप्त की। रामनारायण तेजस्वी छात्र थे, उनके कुछ सहाध्यायी भी समानधर्मा थे। माध्यमिक शिक्षा के वर्षों में इन्होंने बौद्धिक गोष्ठियों का संचालन किया।

मैट्रिक की परीक्षा अच्छे अंकों के साथ उत्तीर्ण करके भावनगर के शामळदास कॉलेज में प्रवेश प्राप्त किया। प्रीवियस परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान पाने के कारण पर्सियन स्कॉलरशिप मिली। बम्बई छात्रालय की आर्थिक सुविधा के कारण विल्सन कॉलेज में दाखिला लिया। लॉजिक तथा मॉरल सायन्स विषयों के साथ बी. ए. की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। फेलो नियुक्त हुए। यह वर्ष था सन् 1908 का। तीन वर्ष के बाद एलएल. बी. की उपाधि प्राप्त करके वकालत का व्यवसाय आरंभ किया, अहमदाबाद व्यवसाय की दृष्टि से अनुकूल था, परन्तु आरोग्य के कारण वे उत्तर गुजरात के सादरा में स्थिर हुए। सत्यनिष्ठ वकील के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सादरा महीकांठा एजन्सी का प्रमुख केन्द्र था।

रामनारायण अंग्रेजी कक्षा छ: में पढ़ते थे तब सन् 1903 में सोलह वर्ष की आयु में उनका ब्याह मणिबहन के साथ हुआ। मणिबहन स्वतंत्र व्यक्तित्व की धनी थीं और अपनी पसंद की पुस्तकें पढ़तीं। पंद्रह वर्ष के दाम्पत्य के बाद सन् 1918 में इन्फ्लुएन्ज़ा की देशव्यापी महामारी में वे चल बसीं। केवल सत्ताइस वर्ष की आयु में जीवनलीला समाप्त हुई। पत्नी के नाम रामनारायण ने जो कविताएँ लिखी हैं, उनमें से यह अर्पणपंक्ति अविस्मरणीय है :

वेणी मां गूंथवांतां कुसुम नहीं रह्यां
अर्पवां अंजलि थी।

– जो कुसुम तुम्हारी वेणी में सजाने की उम्मीद थी, उन्हें आज अंजलि के रूप में अर्पित कर रहा हूँ, निरुपाय।

इन्दुमती के अकाल निधन पर अज का विलाप महाकवि कालिदास ने निरुपित किया है। वहाँ आधार सर्वानुभव का था, यहाँ स्वानुभव का। सांसारिक नाता दाम्पत्य-प्रेम की ऊँचाई को छू जाता है। यह घटना विरल है। छोटी उम्र में हुआ ब्याह विकास में बाधक हो सकता था, यहाँ साधक हुआ। पत्नी रामनारायण के साथ सहमत थीं कि बीस हज़ार रुपये जितनी राशि एकत्रित होने पर वकालत छोड़ देंगे और केवल साहित्य की उपासना करेंगे। परन्तु मणिबहन रही नहीं। उनके निधन के दूसरे ही वर्ष पुत्री सरला भी चल बसी। दिसम्बर में स्वयं रामनारायण टाइफोइड में फंसे। अन्य योग्य वकीलों को अपने असील सौंप कर रामनारायण अपने भाई गजानन के घर वडोदरा गये। परिवार गँवाकर, सफल व्यवसाय छोड़कर, शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में अकेले आगे बढ़ने में जिस श्रद्धा ने

रामनारायण को संतुलित रखा वह पंडितयुग और गांधीयुग के संक्रान्तिकाल के वातावरण में भी थी और मातापिता द्वारा हुई परवरिश का अंश भी थी। पाश्चात्य प्रभाव से भारतीय संस्कार उन्मूलित नहीं हुए थे। बहुत बड़ी आपत्ति से उबरकर रामनारायण समुत्कर्ष पा सके।

सन् 1920 में इन्दुलाल याज्ञिक, रसिकलाल छो. परीख आदि ने 'गुजराती केळवणी मंडळ' की स्थापना की थी। उन्होंने जे. एल. न्यू इंग्लिश स्कूल के हेडमास्टर के रूप में रा. वि. पाठक का वरण किया। रा. वि. पाठक के कार्य से मित्र संतुष्ट थे, परन्तु तभी गांधीजी के नेतृत्व में असहकार आन्दोलन शुरू हुआ। साथियों को साथ लेकर रा. वि. पाठक गूजरात विद्यापीठ में पहुँच गए, दायित्व संभाला। इस निर्णय को वे अपने जीवन का धन्य प्रसंग मानते थे।

उस समय गूजरात विद्यापीठ में आचार्य कृपालानी, पंडित बेचरदास, किशोरलाल मशरूवाला, नरहरि परीख, काकासाहब कालेलकर, पंडित सुखलालजी, मुनि जिनविजयजी, धर्मानंद कोसंबी जैसे जीवननिष्ठ विद्वान अध्यापन-अनुसंधान कार्य में सक्रिय थे। इन महानुभावों के सख्य को शोभा देते रा. वि. पाठक को शिष्य भी कैसे कैसे मिले? सुन्दरम्, नगीनदास पारेख, भोगीलाल गांधी, इनके समकक्ष अन्य भी कई। ऐसे तेजस्वी छात्रों के लिए गुजराती में पाठ्यपुस्तकें तैयार करवाईं, इसके साथ साथ रा. वि. पाठक ने अनुवाद-संपादन की जिम्मेदारी भी संभाली। गूजरात विद्यापीठ की जो पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं : 'पुरातत्त्व' तथा 'साबरमती'। इनके लिए रा. वि. पाठक लिखने लगे। इन्दुलाल याज्ञिक द्वारा संचालित 'युगधर्म'के साहित्य विभाग के संपादन में सहायक होने लगे। सन् 1925 तक 'युगधर्म' प्रकाशित होता रहा।

सन् 1926 में रा. वि. पाठक ने 'प्रस्थान' मासिक पत्रिका का आरंभ किया। प्रस्थान मुख्य रूप से साहित्यिक पत्रिका थी। कविता, कहानी आदि सृजनात्मक विधाएँ इसमें प्रकाशित होती थीं। लेखक अपनी रचनाएँ 'प्रस्थान' में प्रकाशित होने पर धन्यता का अनुभव करते थे। इतना ही नहीं, रा. वि. पाठक के परामर्श से लाभान्वित होते थे। संपादक की हैसियत से भी रा. वि. पाठक ने समीक्षक की भूमिका अदा की। समीक्षा तथा मौलिक चिन्तन के लिए भी 'प्रस्थान' पत्रिका प्रतिष्ठित थी। परन्तु विधि की वक्रता देखिए कि इस पत्रिका के संपादन की सेवा के कारण रा. वि. पाठक को एक समस्या का सामना करना पड़ा। गूजरात विद्यापीठ अपने सेवकों से पूर्ण समर्पण की अपेक्षा रखती थी। 'प्रस्थान' रा. वि. पाठक का निजी साहस था और वे चिन्तक के रूप में स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते थे। क्या किया जाए? गूजरात विद्यापीठ छोड़ दें या 'प्रस्थान' पत्रिका बंद कर दें? विद्यापीठ के साथ भावात्मक सम्बन्ध था, अध्यापन का प्रिय कार्य था, गांधीजी ने भी विद्यापीठ न छोडने का अनुरोध किया था, फिर भी पाठक साहब ने निर्णय लिया – 'संपादन' के स्वातंत्र्य का निर्वाह करेंगे। असुविधाएँ झेलने का जोखिम उठाया। गांधीजी के रचनात्मक कार्यों के प्रति समादर ज्यों का त्यों रहा। ऐसा मूल्यनिष्ठ विवेक बहुत कम

साक्षर निभा पाते हैं, प्रतिक्रियावश नकारात्मक उद्‌गार व्यक्त करते हैं। पाठक साहब स्वस्थ और मृदु रहे। विद्यापीठ के अध्यापक बाहर आकर अब गांधीयुग के साहित्यगुरु का दायित्व संभालने लगे।

विद्यापीठ छोड़ने की घटना को पाठक साहब ने विवाद का मुद्दा बनाया नहीं। वास्तव में बहस काकासाहब कालेलकर के साथ हुई थी। पाठक साहब का कहना था कि गांधीजी के असहकार आंदोलन तथा अन्य मान्यताओं - कार्यक्रमों के विषय में मतभेद व्यक्त करते चर्चापत्र 'प्रस्थान' में प्रकाशित हों, इसमें कोई एतराज़ नहीं हो सकता। काकासाहब कालेलकर का कहना था कि ऐसे चर्चापत्र या लेखों में व्यक्त विरोध का उत्तर 'प्रस्थान' के संपादक की हैसियत से रा. वि. पाठक को देना चाहिए। गांधीमार्ग का चिन्तन क्या है यह समझाते रहना चाहिए। ताकि विद्यापीठ की नीति से असंगत कोई लेख व्यापक स्वीकृति पा न ले। यह सुझाव पाठक साहब को मान्य नहीं था। संपादक के रूप में वे जिस विचार - स्वातंत्र्य के पक्षकार थे, उसमें इस प्रकार की प्रतिबद्धता उन्हें उपकारक न लगी। गांधीजी के प्रति असीम आदर था, आजीवन कार्य करते रहने की भावना के साथ वे विद्यापीठ के अध्यापक बने थे फिर भी समझौता नहीं कर पाए। संस्था से अलग होकर उसके साथ भावात्मक निकटता का निर्वाह करते रहे। 'प्रस्थान' के संपादन-संचालन के लिए अधिक समय देने लगे।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में 'प्रस्थान' पत्र गुजराती के नवलेखकों के लिए मानदंड बनता है। पन्नालाल पटेल की पहली कहानी 'सेठ की शारदा' सुन्दरम् को पसंद आई। उन्होंने उसे 'फूलछाब' में प्रकाशित करने के लिए झवेरचंद मेघाणी को भेजने का सुझाव दिया। मेघाणी ने कहानी प्रकाशित करते हुए लेखक का स्वागत किया। पन्नालाल अति प्रसन्न थे। परन्तु उनकी कुटिया के पास रहते कॉलेज के छात्रों ने कहा : 'मेघाणी तो आपकी कहानी छाप सकते हैं, इसमें अचरज नहीं, परन्तु 'प्रस्थान' में यदि आपकी कहानी छपे तो हम मानें कि आप कहानीकार हैं।' रा. वि. पाठक ने पन्नालाल की कहानी 'सुखदु:ख के साथी' 'प्रस्थान' में प्रकाशित की, इतना ही नहीं, प्रेम से पूछा : 'बारह महीनों में आप कितनी कहानियाँ दे सकते हैं?' पन्नालाल के मन में तो यही उत्तर था कि बारह महीनों में बारह और यदि अधिक मास हो तो तेरह। परन्तु ऐसा कह देना लेखक के लिए गौरवप्रद नहीं होगा, ऐसा समझकर बोले : 'पाँछ-छ: कहानियाँ दे पाऊँगा।' उनकी कहानियाँ 'प्रस्थान' में प्रकाशित होने लगीं और एक ही वर्ष में 'प्रस्थान' के माध्यम से पन्नालाल पटेल गुजरात के सहृदयों तक पहुँच गए।

'प्रस्थान' के संपादक के रूप में रा. वि. पाठक गांधीप्रेरित जीवनमूल्यों के संरक्षक रहे। समीक्षक के रूप में निरन्तर विकसित होते रहे। जिन लेखकों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुए उनके साथ आत्मीयता बढ़ती रही। उमाशंकर जोशी गूजरात विद्यापीठ के औपचारिक छात्र नहीं थे, फिर भी उन्हीं दिनों उनके साथ संपर्क स्थापित हुआ था। उमाशंकरजी ने पाठक साहब को 'साहित्यक्षेत्र के माली' का सम्मान दिया है। उन्होंने लिखा है :

"विद्यापीठ में कवियों और अध्येताओं का वृंद उनके आसपास था। उनके 'प्रस्थान' मासिक पत्र के द्वारा बाहर के कविगण तथा विद्योपासक गण भी विद्यापीठ के परिबलों से प्रभावित हुए। प्रजा को शुद्ध साहित्य रुचि के संस्कार देने का जो कार्य यहाँ शुरू हुआ, जीवन के अंत तक निष्ठा के साथ उन्होंने किया।" (पृ. 5)

सन् 1928 से लेकर 1935 तक रा. वि. पाठक साहित्य-उपासना तथा गांधी प्रेरित राष्ट्रसेवा करते हैं। नौकरी या व्यवसाय के अभाव में उपस्थित असुविधाओं की परवाह नहीं करते। उन्होंने गूजरात विद्यापीठ से त्यागपत्र दिया उसी वर्ष एक विशेष सेवाकार्य प्राप्त हुआ था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने प्रजाकीय जाँच कमिशन नियुक्त किया था। महादेव देसाई और नरहरि परीख उसके सदस्य थे, रा. वि. पाठक अध्यक्ष।

सन् 1935 में रा. वि. पाठक मुंबई पहुँचते हैं। एस. एन. डी. टी. महिला महाविद्यालय में गुजराती भाषा-साहित्य का अध्यापन शुरू करते हैं। यहाँ दो वर्ष बीतते हैं तभी विख्यात साहित्यकार और बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के उपकुलपति आचार्य आनंदशंकर ध्रुव उन्हें अहमदाबाद में स्थापित एल. डी. आर्टस् कॉलेज में अध्यापन का कार्यभार संभालने के लिए प्रेरित करते हैं। यहाँ कुछ समय के लिए वे कार्यकारी प्राचार्य भी थे। अब रा. वि. पाठक के जीवन में एक ऐसी घटना घटित होती है जिसके प्रति सारे गुजरात का ध्यान आकर्षित हुआ।

सन् 1918 में विधुर होने के बाद रा. वि. पाठक का जीवन साहित्य-कला की रसरुचि के सहारे सहज प्रवाह में बहता रहा। उनकी सात्त्विक जीवनशैली एक दृष्टान्त बनी थी। उस सात्त्विकता में प्रेम के सहज आविष्कार की संभावना के विषय में किसी ने सोचा नहीं था। उनके स्वजनों, परिचितों को प्रश्न हुआ – सत्ताइस वर्ष का अकेलापन यों छोड़ देना उचित है?

कुमारी हीरा कल्याणराय महेता, पाठक साहब की एक तेजस्वी विद्यार्थिनी थीं, बड़ा साहित्यरसिक, समर्पित व्यक्तित्व। पाठक साहब से उनका परिचय मुंबई में हुआ था। गुजराती विवेचन साहित्य विषयक महानिबंध कुमारी हीरा ने पाठक साहब के मार्गदर्शन में तैयार किया था। विद्वत्ता और सर्जकता के प्रति जो आदर था वह स्नेह में परिणत हो चुका था। क्या किया जाए? द्विधा दीर्घकाल तक चली। अंतरंग मित्रों से विचार-विमर्श के बाद एल. डी. आर्टस् कॉलेज छोड़कर सन् 1945 के जून में गुरु-शिष्या दंपती बनते हैं। इसकी जानकारी मिलते ही सारे समाजसुधारक खफा हो गए। नई पीढ़ी के कथाकार ईश्वर पेटलीकर भी इस घटना की कटु आलोचना कर बैठे। परन्तु दस वर्ष के बाद पाठक साहब के अवसान के समय पेटलीकर ने पाठक साहब की साहित्यसेवा के साथ साथ हीराबहन की पतिसेवा की भी समादरपूर्वक सराहना की। हीराबहन की सेवा के कारण पाठक साहब गुजराती साहित्य के विकास में एक दशक का अतिरिक्त योगदान दे सके।

विषम संयोगों में, उपेक्षा की स्थिति में भी जिनकी मैत्री में कमी नहीं आई ऐसे मित्रों में सब से आगे थे श्री रसिकलाल छो. परीख। यह मैत्री गूजरात विद्यापीठ के परिसर में

हलके-फुलके मुक्तकों का भी विषय बनी थी। पाठक साहब भी रसिकलाल छो. परीख की विद्वत्ता के प्रशंसक थे। अत: कहा गया था –

'रसिकानाम् रीसचेंषु पाठका: स्तुतिपाठका:'

यह मैत्री सदा उष्मापूर्ण, गहरी और दायित्वपूर्ण रही। वर्षों के अनंतर रसिकलाल परीख ने पाठक साहब के व्यक्तित्व के विषय में हीराबहन से कहा था :

"बटुभाई (रा. वि. पाठक) प्रकृति से अधिक स्वस्थ, धीरजवाले सहृदय, गहरी समझदारी रखते सहिष्णु, भीतर की शिष्ट संस्कारिता के धनी, विसंवाद टालनेवाले, ऐसी बातों पर हलके फुलके ढंग से हँस देने वाले विनोदी, समतुला के साथ तीव्र बौद्धिक अभिगमयुक्त फिर भी भावार्द्र।" (पृ. 19, परिशीलन ग्रंथ)

इस भावार्द्र व्यक्तित्व से कई लेखक अनुगृहीत हुए। समीक्षक और अनुवादक नगीनदास पारेख ने कहा था :

"जब मेरे पिताजी का निधन हुआ तब तो पाठक साहब थे, अब कोई रहा नहीं।" (पृ. 29, परिशीलन ग्रंथ)

गुरु-शिष्य के बीच की दूरी पाठक साहब को रास न आती। शिष्य भी उनके सहृदय थे। उनके निकट बैठकर गोष्ठी में शामिल होना साहित्यकारों को पसंद आता। यह सरलता और आत्मीयता उस व्यक्ति से प्राप्त होती थी जो मूलत: तर्कशास्त्र का मनुष्य था। नगीनदास पारेख कहते हैं कि पाठक साहब के अपने विचार थे। बाहर से वे जो कुछ लेते अपना बनाकर लेते। इसके बाद उसमें से चलित नहीं होते।

पाठक साहब को प्रसन्न रखने का एक ही मानदंड था – गुणवत्ता। आप में योग्यता देखी, वे आत्मीय हो गये। उनका घर ऐसे लोगों के स्वागत के लिए सदा खुला था। उनके औदार्य और वत्सल स्नेह की स्मृतियाँ अंकित करते हुए श्री यशवंत शुक्ल लिखते हैं :

"वह कितना बड़ा अवसर था। एक शाम को वे हमारे घर आये। सब के साथ बैठे। मेरी माताजी के साथ भी बातें शुरू कीं। माताजी यों तो निरक्षर थीं परन्तु उन्हें कई पुराने पद, भजन, आख्यान कंठस्थ थे। यह जानते ही उन्होंने गाने के लिए मेरी माताजी से अनुरोध किया, सुना। हमारा मानों बरसों पुराना पारिवारिक नाता हो ऐसा इस प्रसंग से फलित हुआ, इसमें बड़ाई बटुभाई (रा. वि. पाठक) की थी।" (पृ. 34)

रा. वि. पाठक ने अप्रिय प्रतिभाव सह लिए, कटु आलोचनाओं के प्रति भी आभिजात्य दिखाया। दूसरों के विरुद्ध बोलने में, किसी भी प्रकार के वितंडावाद में उन्हों-ने समय गँवाया नहीं। संकट या तनाव के क्षणों में भी उन्होंने स्वस्थता निभाई है।

विवाह के बाद अहमदाबाद के कर्वे कॉलेज में हीराबहन की खण्ड समय के व्याख्याता के रूप में नियुक्ति हुई थी। एक तेजस्वी युवती अध्यापिका के रूप में प्राप्त हो, यह छात्राओं के लिए प्रसन्नता का विषय हो सकता था, हुआ विपरीत। उस युग की मानसिकता के अनुसार प्रेम और सेवा के स्थान पर उन्हें अनमेल ब्याह दिखाई दिया। हीराबहन की नियुक्ति के विरुद्ध छात्राओं ने हड़ताल की। हीराबहन ने त्यागपत्र दे दिया।

उस क्षण पाठक साहब की संवेदना पर क्या क्या बीता होगा? वे जानते थे कि हीराबहन जैसी विदुषी थी वैसी ही कुशल अध्यापिका थीं। उन्होंने भारतीय नारी की पुरातन भावना से समर्पण किया यही उनका दोष? सराहना के स्थान पर विरोध? सूक्ष्म प्रेम की सत्ता का अस्वीकार?

पाठक साहब का शिक्षा एवं संस्कार–जगत में एक स्थान था। तीन दशक के विधुर जीवन के संयम-निग्रह के स्थान पर यह प्रेम नामक भावना कैसे उदित हो सकती थी? फिर त्याग और वैराग्य का क्या?

बाद में हीराबहन ने इस सम्बन्ध का रहस्य श्री यशवंत शुक्ल के समक्ष प्रकट किया था:

"पाँच वर्ष पूर्व वरसोवा के सेनेटोरियम में छुट्टियाँ बिताने का हमने निर्णय किया था। हमारा सम्बन्ध गुरु-शिष्या का ही रहता। उन्हें या मुझे एकांत में किसी प्रकार अनुचित बर्ताव का विचार भी नहीं आया था। परन्तु उन्हीं दिनों वे बीमार हो गए। सात दिन की बीमारी के दरमियान मैंने बड़े प्रेम से उनकी देखभाल की, सुश्रुषा की। उस बीमारी से मुक्त हो जाने के बाद भी वे अशक्त थे और सो रहे थे। तभी मैं उनके सर पर हाथ पसारने लगी। मेरा हाथ सहलाकर वे बोले : 'मेरे जीवन पर तेरा प्रभाव कितना बढ़ रहा है यह तू जानती है?' सुनते ही मैं द्रवित हो उठी। मेरे मन में जीवन-समर्पण का जो अस्पष्ट भाव था वह स्पष्ट हो गया। मैं उन्हें समर्पित हो चुकी।"

हीराबहन ने पाठक साहब में मानव्य का जैसा अनुभव किया वैसा ही महानुभाविता का। क्रोध नहीं, लोभ नहीं, मान नहीं, जो साथ है उसके स्वत्व और स्वातंत्र्य की समझदारी, प्रसन्नता, विनोदवृत्ति।

गुजरात की साहित्यिक संस्थाओं के साथ रा. वि. पाठक का गहरा नाता रहा। अहमदाबाद की गुजरात विद्यासभा तथा बम्बई की भारतीय विद्याभवन जैसी संस्थाओं को अपनी सेवा से उन्होंने उपकृत किया।

सन् 1928 में नडियाद में आयोजित तथा सन् 1937-38 में कराची में आयोजित गुजराती साहित्य परिषद के अधिवेशनों में वे साहित्य विभाग के अध्यक्ष थे तो कुछ वर्ष बाद वे समग्र परिषद के प्रमुख भी मनोनीत हुए। तीनों बार उनसे विद्वत्तापूर्ण प्रवचन प्राप्त हुए। उस युग में जो व्याख्यानमालाएँ थीं, जो पुरस्कार या चन्द्रक थे उन सब के साथ प्राय: रा. वि. पाठक का नाम जुड़ा था। वे सर्वत्र स्वीकार्य थे। श्रोताओं तथा पाठकों को उन्होंने कभी निराश नहीं किया। इसका श्रेय उनके रसज्ञ पाण्डित्य के साथ उनकी विरल विनोदवृत्ति को भी देना चाहिए।

समकालीन तथा अनुगामी साहित्यकारों ने आदर और आत्मीयता से उनके संस्मरण लिखे हैं। गुजराती विश्वकोश के संपादक आचार्य धीरुभाई ठाकर लिखते हैं :

"भारती निवास में उनके मकान के सामने उनके भाई गजाननभाई का बंगला था। उसके खुले बरामदे में वे बैठे थे और मैं वहाँ पहुँच गया। उनके हाथ में कागज़ थे :

'तुकाराम का स्वर्गारोहण' काव्य तुरन्त ही लिखा था। आर्द्र स्वर में उन्होंने पाठ किया था, वह मुझे याद आता है।

हम उनके मकान के तहखाने में रहते थे, पाठक साहब तथा हीराबहन ऊपर रहते। मेरी पत्नी को काम करते करते गीत गुनगुनाने की आदत थी। एक बार पाठक साहब ने सुन लिया, हीराबहन से उन्होंने कहा : "धनुबहन गीत गाती हैं उसकी लय मधुर है। मुझे उन्हें सुनना है।" इसके बाद उन्होंने धनु से पूरा गीत सुना, पूरी स्वररचना लिख ली। एक बार गली में भरथरी रावणहथ्था बजा रहा था। उसे बुलाकर उसके सामने बैठे। उससे लोकगीत सुने। उसकी लय नोट कर ली। संभवत: उन दिनों वे 'बृहत् पिंगल' लिख रहे थे। या उसकी पूर्वतैयारी कर रहे थे, ऐसा याद है।" (पृ. 48, परिशीलन ग्रंथ)

एक शास्त्र के आधार से रचे जाते दूसरे शास्त्र की परंपरा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं को सुलभ हुई है। इस बीच जो ज्ञान और कला प्रजा की मौखिक परंपरा में सुरक्षित थे उनका अपने शास्त्र–ग्रंथ में विनियोग करना पाठक साहब को उचित लगा। व्यक्तित्व ही ऐसा था कि उनके कुतूहल में, उनकी जिज्ञासा में कभी कमी नहीं आई। एक चित्र-प्रदर्शनी देखते समय बारीक प्रश्न करते पाठक साहब को डॉ. भोलाभाई पटेल ने देखा है।

उनके भतीजे श्री अरविंद पाठक ने परिवार की कुछ प्रणालियों का उल्लेख किया है। उनमें एक है भोजनविषयक। 'यह अच्छा नहीं लगता' ऐसा उद्‌गार भोजन के समय नहीं निकलना चाहिए। अन्न को जीव, प्राण, दैव जैसा मानना चाहिए। वस्त्रों का भी ऐसा ही ध्यान रखते। श्री अरविंद पाठक लिखते हैं :

"गांधीजी की सादगी और कम खर्च का असर उनकी प्रत्येक गतिविधि में दिखाई देता। मैंने उन्हें अपने कुर्ते पर पैबंद लगाते देखा है। दो ही इंच लम्बी कॉपिंग पेन्सिल से पुस्तक के वाक्य को रेखांकित करते या रीमार्क लिखते हुए देखा है। हररोज फाडे जाते कैलेण्डर के पृष्ठ के पीछे चिठ्ठी लिखते हुए देखा है। उनके कमरे में लकड़ी का पुराना टेबल, एक बिना हाथ की कुर्सी, एक हाथवाली लकड़ी की कुर्सी, एक अलमारी, लकड़ी की खाट और दरी। आचार्य क्षितिमोहन सेन भी यह सादगी और रसोई घर की स्वच्छता देख स्तब्ध हो गये थे। उन्होंने इसका खास उल्लेख किया था।

एक एक पाई का हिसाब हररोज लिखते और एक पैसे की भूल नज़र आए तो सोचने बैठ जाते। भूल खोज निकालने के बाद ही निश्चिंत होते।" (पृ. 51)

पाठक साहब के निधन के बाद हीराबहन ने दोनों की बची हुई पूंजी का उपयोग ग्रामसेवा, शिक्षा और साहित्य के विकास के लिए किया। दान दिया परन्तु उसके विज्ञापन से बचकर। आज पाठक दम्पती की अनुपस्थिति में भी साहित्य और शिक्षा के लिए उपकारक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं।

2

कविता

रा. वि. पाठक ने 'शेष' उपनाम से कविताएँ लिखीं। सन् 1925 में 'नर्मदा के किनारे' कविता के साथ 'शेष' उपनाम प्रकाशित हुआ। ऐसा उपनाम क्यों? यज्ञशेष का अर्थ अभिप्रेत नहीं लगता। साहित्य की अन्य विधाओं में सक्रिय रहने के उपरान्त जो समय और सर्जकता अवशिष्ट रही उसे 'शेष' समझा जाए? हीराबहन का अनुमान है कि प्रथम पत्नी के निधन पर दाम्पत्य खंडित हुआ और स्वयं शेष रहे यही अर्थ अभिप्रेत रहा होगा।

प्रथम कविता–संकलन 'शेष की कविताएँ' 1938 में प्रकाशित हुआ। दूसरा संकलन 'विशेष कविताएँ' सन् 1959 में प्रकाशित हुआ, मरणोत्तर। कुल मिलाकर 130 रचनाएँ देनेवाले रा. वि. पाठक 'पूर्वालाप' के कवि कान्त के कलासंयम की बराबरी करने के साथ जीवन मांगल्य के उद्घाता के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

रा. वि. पाठक काव्यज्ञ कवि थे, 'स्कॉलर पोएट' थे। संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत काव्यशास्त्र को आत्मसात करके पाश्चात्य साहित्य के नवोन्मेष के मर्म तक पहुँचे थे। प्रेरणा का स्रोत प्रत्यक्ष जगत था, साथ साथ प्रशिष्ट साहित्य का परिशीलन भी। संवेदना को सौन्दर्यानुभूति में रूपान्तरित करती रा. वि. पाठक की कविताएँ संख्या में कम होने पर भी गुणवत्ता के कारण बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में अपना स्थान बना चुकी हैं।

गुजराती साहित्य में गांधीयुग से पहले पंडितयुग ने विद्वत्ता के साथ सांस्कृतिक मूल्यों के विषय में प्रभावक चिन्तन शब्दबद्ध किया था। गांधीयुग के लेखक आदर्शों को बोलचाल की भाषा में व्यक्त करने के प्रयास में कभी कभी प्रचारक हो जाते थे। रा. वि. पाठक पंडितयुग – गांधीयुग के बीच खड़े हैं। दोनों के अतिरेक से बचकर उनकी उपलब्धियों के संयोजक की भूमिका निभाते हैं, चिरन्तन मूल्यों को सर्जनात्मक ताज़गी के साथ प्रस्तुत करते हैं। प्रेम और पानी जीवन में अनन्य स्थान रखते हैं – यह सूत्र कैसा जीवंत रूप धारण करता है :

पानी और प्रेम - सा
दूसरा कुछ नहीं जगत में !
जो मनुष्य को सर्वत: स्पर्श करते हैं !
जिससे खेला जा सकता है,

जिसे पिया जा सकता है,
जिसमें नहाया जा सकता है
जिसमें संभव है बाह्यांतर उभय
शुद्धि की ताज़गी ।

– उपर्युक्त गद्य रूपान्तर गुजराती में छंद की चुस्ती के कारण लाघव युक्त है। उस युग में संस्कृत वृत्तों के विविध प्रकारों का सोचसमझ के साथ प्रयोग होता था।

लाघव के गुण के कारण रा. वि. पाठक मुक्तक कविता के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान दे पाए हैं। मानो संस्कृत श्लोक गुजराती में अवतरित हुआ। शार्दूलविक्रिडित छंद में प्रसन्न दाम्पत्य का एक नाट्यात्मक चित्र है :

'प्रियतम सोया हुआ है, रंगभीनी वधू उसके मुख पर झूकी, झूम रही है। निवास का एकान्त देखकर इस विश्रंभ अवस्था में पति को चूमना चाहती है। तभी यकायक प्रिय के नेत्र खुलने पर मुख पर लालिमा छा जाती है। क्षितिज पर उदित कुछ ऊँचाई पर चन्द्र रुका-सा दिखाई देता है।'

मूल गुजराती पाठ दृष्टव्य है :

"पोढेला पियुना परे झझूमती को रंगभीनी वधू,
विश्रंभे चूमवा चहे नीरखीने एकान्त आवासनुं,
ओचिंतां पियुनेत्र त्यां ऊघडतां छाये मुखे लालिमा,
थंभ्यो अध्धर ऊगतो क्षितिजथी तेवो दीसे चन्द्रमा।"

(पोढेला पियुना –)

इस प्रकार की रचनाओं में लक्षित होती 'संस्कृत कविता की लालित्यवती प्रौढि' सुन्दरम् आदि समीक्षकों को सराहनीय लगी है।

'तुकाराम का स्वर्गारोहण' एक छोटा-सा (108 पंक्तियों का) खण्ड-काव्य है। घटना 'काल्पनिक' है परन्तु फलितार्थ लौकिक है। पुरुष स्वर्ग का साहचर्य पाने के लिए मुक्त है, परन्तु नारी? वह अपने छोटे-से सांसारिक दायित्व को छोड़कर नहीं जा सकती, भले ही अपने भक्तप्रवर पति के साथ स्वर्ग का निमन्त्रण हो। पति का भक्ति संगीत सुनने के लिए स्वयं देवाधिदेव इन्द्र उत्सुक हों उस समय पत्नी उपस्थित रहना न चाहे यह संभव है भला? परन्तु सती तुकाराम का साथ नहीं देंगी क्योंकि उनकी भैंस गाभिन है और वह चार महीनों के बाद जिसे जन्म देगी वह बच्चा नर होगा या मादा यह जानने का उन्हें कुतूहल है। पति का दिव्य समर्पण भाव और पत्नी का दुनियावी कुतूहल यहाँ विरोध या संघर्ष की भूमिका पर टिके नहीं हैं, बल्कि कहना चाहिए कि मुक्तात्मा और माया का गहरा नाता यहाँ सूचित होता है। यहाँ मरण और मुक्ति में अंतर नहीं है, यहाँ सांसारिक बंधन दुःखदाई नहीं हैं।

रा. वि. पाठक ने कविता-संकलन के अंत में प्रस्तुत कविता के विषय में इस प्रकार टिप्पणी दी है :

"ऐसी किंवदन्ती है कि तुकाराम जीते जी – सदेह स्वर्ग गये थे। कथा बताती है कि स्वर्ग के प्रति प्रस्थान करते समय तुकाराम ने अपनी पत्नी जिजाई से कहा था कि 'मैं स्वर्ग जा रहा हूँ, मेरे साथ चलने की इच्छा हो तो चलो।' परन्तु जिजाई ने कहा : 'मैं गर्भवती हूँ, पाँच मास हो चुके हैं। घर में बाल बच्चे भी हैं तो मैं कैसे आ सकती हूँ?'

तुकाराम के स्वर्गारोहण के समय जिजाई सगर्भा थीं यह सर्वस्वीकृत तथ्य है। उस समय उनके तीन बेटे और तीन बेटियाँ भी थीं।

प्रस्तुत खंडकाव्य तीन अंशों में विभाजित है। प्रथम अंश में इन्द्र और शची के बीच संवाद है। भक्त की अनुपस्थिति में विष्णु स्वर्ग के आनंद का अनुभव नहीं कर सकते हैं, तो दूसरी ओर तुकाराम स्वर्ग के प्रति उदासीन हैं। क्या किया जाए?

ब्रह्मर्षि नारद द्वारा स्वर्ग में अभंग गाने के लिए तुकाराम को निमंत्रित करने की योजना इन्द्र और शची बनाते हैं। ऐसा करने में कोई प्रतारणा नहीं है।

दूसरे अंश में प्रात:काल में तुकाराम और उनकी पत्नी सती स्वप्न की बात करते हैं। स्वर्ग के निमंत्रण का एक-सा स्वप्न दोनों ने देखा है। तुकाराम पत्नी से पूछते हैं, सती सोचती हैं, द्विधा है। बाद में वे बताती हैं कि 'आप तो भाग्यविधाता हैं, जो चाहे कर सकते हैं, परन्तु हम नारियाँ तो संसार में ओतप्रोत हैं, मनचाहा निर्णय नहीं ले सकतीं।'

तीसरे अंश में तुकाराम सती से पुन: आग्रह करने पर भी साथ लाने में सफल नहीं हुए हैं, यह तथ्य सूचित है। स्वर्ग में आने के बाद तुकाराम ने अभंग गाये हैं, सब धन्य हैं, फिर भी शची को लगता है कि इन्द्र अस्वस्थ हैं। कहते हैं, एक क्षति दूर करने के लिए मैंने कई दुर्घटनाएँ पैदा की हैं। सती यहाँ नहीं आईं और भक्त तुकाराम स्वर्ग से ऊब गये हैं। स्वर्ग के विलास के प्रभाव से उन अभंगों का स्मरण भी नहीं होता, जो बड़ी खिन्न मन:स्थिति में तुकाराम ने प्रभुविरह में गाये थे।

यहाँ कुछ अभंगों का रूपान्तर भी रा. वि. पाठक संयोजित करते हैं।

यदि सती तुकाराम के साथ स्वर्ग आतीं तो उनके कष्ट दूर होते, परन्तु हुआ क्या? सती वहाँ सारा दायित्व संभालती हैं और अपने को स्वयंत्यक्त मानने पर भी पति की दासी होने की प्रतीति से संतुष्ट हैं। यहाँ शची बताती हैं कि सती ने महिषी के गाभिन होने की बात कही थी वह तो केवल बहाना था। वास्तव में सती की दृष्टि में समत्व है, स्वर्ग और पृथ्वी में भेद नहीं। अब इन्द्र कहते हैं कि 'दोनों में बड़ा कौन? संसार से ऊर्ध्वगति पाने वाले तुकाराम या संसारचक्र का अनुवर्तन करतीं जिजाई?'

संस्कृत वृत्तों में लिखी गई ऐसी दीर्घ रचनाओं में 'एक सन्ध्या' (104 पंक्तियाँ), 'राणकदेवी' (72 पंक्तियाँ), 'वैशाख की दोपहर' (92 पंक्तियाँ), 'कोई कहेगा?' (86 पंक्तियाँ), 'पृथिवी सुक्त' (220 पंक्तियाँ), 'उस्ताद से' (95 पंक्तियाँ), 'बुद्ध का निर्वाण' (72 पंक्तियाँ) उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक रचना में एकाधिक छंदों का विनियोग है तो कहीं कहीं संवाद - रीति का भी उपयोग हुआ है।

शालेय पाठ्यपुस्तकों में संकलित होने के कारण रा. वि. पाठक की कई रचनाएँ लोकप्रिय हुईं। तो कुछ गेयता के कारण भी प्रजा तक पहुँची। 'अभी नहीं जगता मेरा आतमराम' (हजी ये न जागे मारो आतमराम) भजनशैली की विख्यात रचना है, तो 'पत्ता परदेसी' (पांदडुं परदेशी) गीत इतना प्रचलित हुआ कि वह लोकगीतों की पंक्ति में जा बैठा। 'प्रथम प्रणाम' रचना रा. वि. पाठक की विधायक श्रद्धा का व्याकरण प्रस्तुत करती है। कई लोग अपनी कैफियत के रूप में इसका पाठ करते दिखाई दिये हैं। इस गेय रचना का भावानुवाद इस प्रकार है :

प्रथम प्रणाम मेरी माताजी से कहना
जिन्होंने माटी को माना रत्न;
भूखी रहीं खुद, हम को खिलाया,
जागकर खुद हम को सुलाया,
जतन किया इस काया का। 1

दूसरा प्रणाम मेरे पिताजी से कहना
घर से दिखाई जिन्होंने गली,
बोलकर बोलना सिखाया,
राह दिखाते ले गये, बाज़ार तक
पहाड़ की ऊँचाई पर दिखाया देवल। 2

तीसरा प्रणाम मेरे गुरुजी से कहना
पता नहीं – मिले या न मिले
पर जो भी मिले, चला सही मानकर,
किसी एक को प्रणाम कहें या सभी को,
जो बोले अगम निगम की वाणी 3

चौथा प्रणाम मेरे बालमित्रों से कहना
जिनके साथ खेले जग में खेल,
खालीपन में रंग भरे, जंग में साथ दिया
हँसाकर धुलाये हमारे मैल। 4

पाँचवा प्रणाम मेरे शत्रु से कहना, जिसने
ठोकर से खोल दिये अंतर-द्वार,
हमको दिखाए अनजान घेरे,
उलीचे आतम के गहरे अंधकार। 5

छठा प्रणाम मेरी जीवन साथी से कहना
संसार की धूप में जिसने दी छाया,

प्रणाम ज्यादा लगे, प्रणाम कम भी लगे
इस आतम के कहना उन्हें एक सांई। 6

सातवाँ प्रणाम उस महात्मा से कहना,
मवेशियों को जिसने बनाया मनुष्य,
टहलने के मार्ग जिसने खोल दिये बेहतर,
साथ साथ गाड़ दी कीलें आचार की गहरी। 7

आखिरी प्रणाम मेरे इस जगत से कहना
जिसने कुछ लिए बिना दिया सर्वस्व
दिया और देगा, पाला और पालेगा
जब दुबारा उतरेगा यहाँ हमारा हंस। 8

माता से जगत तक प्रणाम कहने का क्रम देखिए। संवेदना से आरंभ हुआ, चिन्तन तक पहुँचता है प्रणाम का यह उपक्रम। चार चार पंक्तियों के चरण में मूल गुजराती में लय के साथ अनुप्रास का भी सुचारु रूप से निर्वाह हुआ है। यह रचना रा. वि. पाठक की निजी जीवनदृष्टि सूचित करने के साथ भारतीय परिवार और भारतीय सभ्यता की पहचान देनेवाला एक लघु दस्तावेज़ भी है।

सूक्ष्मता से देखने पर यहाँ एक प्रश्न होता है : माता, पिता, गुरू, मित्र, शत्रु, जीवनसाथी, महात्मा गांधी और जगत को प्रणाम पहुँचाने की अभीप्सा में ईश्वर उपस्थित क्यों नहीं है? सोचने पर लगेगा कि ईश्वर अनुपस्थित भी नहीं है। देवल, अगम-निगम, आत्मा, हंस आदि संज्ञाएँ परम तत्त्व में कवि की श्रद्धा के संकेत करती हैं। अन्य रचनाओं में परम तत्त्व से प्रार्थना है ही। फिर भी कहना चाहिए कि गांधीयुग की मूल्यनिष्ठा के अनुसार पृथ्वीतत्त्व की महिमा और आत्मतत्त्व की जागृति को रा. वि. पाठक की कविता में अग्रता प्राप्त हुई है। उनका एक विख्यात पद है – 'अब भी जग नहीं रहा मेरा आतमराम!' समुद्र, तूफान, पतवार, सुकान, आदि के संयोजन से चार चरण में एक सांग रूपक संयोजित हुआ है। आत्म तत्त्व के जगने पर ही यह विकट यात्रा संभव है, परंतु कब संभव होगा आतमराम का जगना?

इस गंभीर रचना के साथ हास्य–कटाक्ष के दोहों की तुलना करने पर रा. वि. पाठक की संवेदना का व्याप स्पष्ट होगा। 'एक राजपूत टेक के मध्यकालीन दोहे' जैलवास के दरमियान लिखी गई एक कटाक्ष-कृति है।

समग्रतया देखने पर रा. वि. पाठक एक प्राज्ञ कवि के रूप में उभरते हैं। अथर्ववेद के 12 वें काण्ड के एक सुक्त का अनुवाद 'पृथिवी सुक्त' यथार्थ जगत तथा समग्र पर्यावरण का स्वीकार करता है तो दूसरी ओर अनेक रचनाएँ उन्मीलन की – आध्यात्मिक उत्कर्ष की अभीप्सा व्यक्त करती हैं। उस युग के अनेक कवियों ने बुद्ध की करुणा का गौरव किया। रा. वि. पाठक ने 'महापरिनिब्बान सुत्त' में आलेखित बुद्ध के निर्वाण की

कथा का आधार लेकर 'बुद्ध का निर्वाण' काव्य लिखा है। अनुष्टुप छंद का प्रयोग किया है। बुद्ध ने पुष्पवृष्टि को चमत्कार मानने से मना किया, देहपूजा का विरोध किया, चुन्द के द्वारा परोसे गये अन्न से पैदा हुई बीमारी मृत्यु का कारण बनी – ऐसा मानने से मना किया, अंतिम क्षणों में सुभद्र को दीक्षा देकर अप्रमाद से जीने का उपदेश देकर उसे आनंद को सुपुर्द किया, आदि घटनाओं का समुचित संयोजन प्रस्तुत रचना में हुआ है। साद्यंत शान्त रस का निर्वाह हुआ है। अक्षुब्ध संघ की आँखों से पारिजात से आँसू स्रवित हुए। आरंभ में असह्य वेदना सहकर सस्मित ओष्ठों से बात करते बुद्ध दिखाई देते हैं, अंत में उसी स्वस्थता से आँखें मूंदते ध्यानस्थ बुद्ध लक्षित होते हैं। रा. वि. पाठक के कलासंयम का भी यह काव्य एक दृष्टांत है।

रा. वि. पाठक ने कवि 'कान्त' के प्रणय-निरूपण को 'गूढ करुण' कहा है। रा. वि. पाठक के प्रणयभाव में भी करुण का तत्त्व कम नहीं, परन्तु एक चिन्तक के रूप में सृष्टि के क्रम को वे तटस्थता से ग्रहण कर सकते हैं। वैयक्तिक प्रणय विकसित और व्यापक होकर करुणा की ऊँचाई तक पहुँचता है। बुद्ध अपनी व्यथा पर विजय पाकर सुभद्र से बात करना पसंद करते हैं और ध्यानस्थ स्थिति में निर्वाण पाते हैं। यह स्वस्थ प्रज्ञा कवि रा. वि. पाठक के चिन्तन का निष्कर्ष है। यह ज्ञानात्मक संवेदना उनका लक्ष्य है।

रा. वि. पाठक की कविता की समीक्षा विविध दृष्टिबिन्दुओं से होती रही है। कविता में वैश्विकता, लयतत्त्व, छांदस कर्म, नाट्यतत्त्व, प्रणयभाव, मृत्यु और प्रेम, प्रार्थना, अभिनव सादृश्य–योजना, काव्य बानी में सादृश्य और संवाद, हास्य, घर-गृहस्थी की भाषा का विनियोग जैसे शीर्षकों से नई पीढी के कवि-समीक्षकों ने शेष की कविता का मूल्यांकन - पुनर्मूल्यांकन किया है।

बुद्ध के निर्वाण का एक अंश है :

"मुख के मंडन से, स्मृति के द्वारपाल-से, शान्ति के प्रतीक-से सुदीर्घ श्रवणों द्वारा कुछ सुना न सुना और सारी बात का रहस्य पा गये, सहस्र करुणास्रोत बहाते चक्षु खोलकर मितभाषी बुद्ध बोले:।" (विशेष काव्य, पृ. 10)

'मंगल त्रिकोण' उपजाति छंद में रचित पति-पत्नी के बीच संवाद है। इसके केन्द्र में नवजात शिशु है। उसकी मासूम हरकतें पत्नी को पति की आदतों की याद दिलाने में सहायक होती हैं। यहाँ प्रसन्न दाम्पत्य की झाँकी आनंददायी है।

'छेल्लुं दर्शन' (अंतिम दर्शन) पृथ्वी छंद में रचित सफल सॉनेट है। पत्नी के निधन पर मृत्यु को मंगलमय सूचित करती इस रचना की पदावलि सरल है, इसमें गति है। अग्नि के सान्निध्य में मिलन, अग्नि के सान्निध्य में बिदा! वैयक्तिक अनुभूति का स्पर्श भी पाठकों को याद दिलाता है कि बड़े कवि का दु:ख वेदना बन सकता है, वेदना आनंद पर्यवसायी हो सकती है।

'सिन्धुनुं आमंत्रण' (सिन्धु का निमंत्रण) कविता अनुष्टुप और स्रग्धरा में रचित आनंदोल्लास में सहयोगी होने की भावना व्यक्त करती है। समुद्र का जीवन्त खुलापन

उसके निकट पहुँचने के लिए कितनी बड़ी सुविधा है! यहाँ प्रज्ञाओं के बीच, प्रदेशों के बीच भेद नहीं। कवि, कलाकार सभी को न्योता देता है। कोई जाए न जाए – समुद्र का निमंत्रण अविरत और उन्मुक्त है।

अनुष्टुप और स्रग्धरा छंदों का विनियोग समुद्र की प्रकृति को व्यक्त करने में उपकारक सिद्ध होता है। अनुष्टुप में भाटे की स्थगितता है तो स्रग्धरा की प्रलंब लय में ज्वार का उछाल है। समुद्र का व्यक्तित्व ऐसा जीवन्त हो उठता है कि केवल मानवीकरण अलंकार की चमत्कृति नहीं जलतत्त्व का लहराता अस्तित्व प्रत्यक्ष होता है।

उपर्युक्त तीनों कविताएँ भिन्न रुचि वाले समीक्षकों को सराहनीय लगी हैं। पुरानी पीढ़ी के छात्रों की स्मृति में भी ये रचनाएँ सुरक्षित हैं। इसमें छंद-योजना का भी योगदान है।

संस्कृत वृत्तों की लयमाधुरी बोलचाल की भाषा में लीलया सिद्ध होती है :

"अरे भोळा स्वामी! प्रथमथी ज हुं जाणती हती
ठगवाना छो जी।" (उमा – महेश्वर)

(– हे मेरे भोले नाथ! पहले से ही मैं जानती थी कि आप अवश्य ठगे जायेंगे।)

स्वस्थ, प्रसन्न दाम्पत्यप्रेम की रचनाओं में 'एक संध्या' उल्लेखनीय है। इसका अंश देखें :

"अंधारुं एकान्त रची रह्युं तुं
छतां हती दर्शन पूरती द्युति
ने प्रीति द्युतिविण क्यां न देखती जे!"

अँधेरा एकान्त रच रहा था, फिर भी दर्शन हो सके इतनी द्युति थी। और प्रीति तो द्युति के बिना भी कब नहीं देख पाती?

बालक की वाणी में पानी की मन्द आवाज़ का सादृश्य 'जल में जगी मृदु गूंज सी, बोली,' जल और चांदनी का जीवन्त सायुज्य : 'हां रे इसमें चांदनी छब छब हो रही!' – जैसी पंक्तियों में ताज़गी और सूक्ष्मता मुग्ध कर देती है, तो दूसरी ओर रा. वि. पाठक की कविता में निरंजन भगत जैसे कवि समीक्षकों को सार्वभौमिकता – वैश्विकता दिखाई देती है :

"उनका स्वकीय सर्जक व्यक्तित्व विरल व्यक्तित्व था। उनके सर्जक मानस में 'मैं' और 'वह'का सहअस्तित्व था। वे छोटे थे तबसे लेकर उनके विश्रांति के समय में एकान्त में 'मैं' और 'वह' का अथवा कहें कि कथाओं और काव्यों के पात्रों के साथ सतत वादविवाद और संवाद होता रहा। .... आर्नल्ड ने सोफोफ्लिस के विषय में कहा था – He saw life Steadily and saw it whole – इसका आधार लेकर कहना हो तो उन्होंने (रा. वि. पाठक ने) कविता में जीवन का और जगत का स्थिरता से उसकी समग्रता में दर्शन किया है। उनकी कविता में जो वैश्विकता है उसका यह अंतिम रहस्य है। (पृ. 101, परिशीलन ग्रंथ)

3.

कहानी

सन् 1922 के अंत में 'कल्लोल' नामक एक हस्तलिखित पत्रिका के लिए एक छात्र के अनुरोध पर रा. वि. पाठक ने 'स्ट्रैण्ड' पत्रिका में पढ़ी एक कहानी से प्रेरित होकर पहली कहानी 'एक प्रश्न' लिखी। मौलिक कहानियाँ 'युगधर्म' तथा 'प्रस्थान' पत्रिकाओं के लिए लिखीं। अपने नाम 'रामनारायण' में दो 'र' का समावेश होने के कारण उपनाम 'द्विरेफ' रखा। भ्रमर को भी द्विरेफ कहते हैं। लेखन एवं भाषण की द्विविध वृत्तियों के साम्य के कारण भी वे मधुकर वृत्ति का दावा करते हैं। विलक्षण विनोदवृत्ति के कारण भी वे अपने आप को उपालंभ देने की क्षमता रखते थे। तीनों कहानी-संग्रहों का नाम द्विरेफ की कहानियाँ (वातो) रखा।

1. द्विरेफ नी वातो – 1 (1928) (द्विरेफ की कहानियाँ)
2. द्विरेफ नी वातो – 2 (1935) (द्विरेफ की कहानियाँ)
3. द्विरेफ नी वातो – 3 (1942) (द्विरेफ की कहानियाँ)

बाद में गुजरात साहित्य अकादमी द्वारा 'रामनारायण वि. पाठक ग्रंथावलि' के दूसरे खण्ड में कहानियों तथा किशोर-साहित्य का (1990) समावेश हुआ।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में गुजराती साहित्य को दो समर्थ कहानीकार प्राप्त हुए : 'धूमकेतु' और 'द्विरेफ'। 'धूमकेतु' की भावुकता और रा. वि. पाठक की नियंत्रित संवेदना समीक्षकों को प्रमुख भेदरेखा लगीं। रा. वि. पाठक ने कुल मिलाकर 36 कहानियाँ लिखी हैं। अपने समय में इनके कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'धूमकेतु' की अपेक्षा 'द्विरेफ' की कहानियाँ, संख्या में बहुत कम हैं किन्तु इनका साहित्यिक महत्त्व कम नहीं। कथारस के लोभी सामान्य पाठक तथा कला की सूक्ष्मता की अपेक्षा रखते प्रबुद्ध पाठक – दोनों वर्ग के पाठकों को 'द्विरेफ' ने आनंदविभोर किया। नई पीढ़ी के कहानीकार अपनी सज्जता बढ़ाने के लिए 'द्विरेफ' की कहानियाँ पढ़ते हैं। प्रशिष्ट साहित्य-कृतियों की तरह वे आज भी आस्वाद्य हैं। 'बुद्धिविजय', 'खेमी', 'मुकुंदराय', 'सौभाग्यवती', 'केशवराम' तथा 'यमुना की बाढ़' गुजराती भाषा की कालजयी कहानियाँ हैं। संवेदना, विचारतत्त्व, कथनकला तथा रचनारीति की दृष्टि से इनका मूल्यांकन करते समय कुछ न कुछ नया तत्त्व नज़र आता है। रा. वि. पाठक ने भले कहा हो कि कहानी लेखन उनका प्रथम प्रेम नहीं है, परन्तु समीक्षकों को लगा है कि उनकी प्रतिभा इस विद्या में सविशेष झलकती है।

कुछ कहानियाँ 'मेहफिले फेसाने गुयान' अर्थात् 'कथा विनोद मंडल' श्रेणी के अंतर्गत लिखी गई हैं। इसमें प्राचीन कथानक, दृष्टांत, किंवदन्तियां या पुरातनपंथी समाज की सत्य घटनाएँ, मंडल के सदस्यों की गोष्ठी के साथ संयोजित की गई हैं। कहीं जीवन के विषय में मार्मिक उलाहना है तो कहीं तूफानी स्मित है। प्रथम कहानी में गंभीरता का निर्वाह करते हुए करुण अंत की आलोचना की है तो दूसरी कहानी में श्रमजीवी महिलाओं की करुणता और उनके सेठों की कामुकता का उपहास किया है। इसके उपरान्त विनोदमंडल के सदस्यों के हास्य-व्यंग्य भी समाविष्ट हैं। कथाप्रवाह में वे बाधक नहीं बनते। कथा के समय को वर्तमान क्षण तक खींच लाते हैं।

धनूभाई, धीरूबहन, प्रमिला, कहानी को प्रस्तुत करनेवाला 'मैं' और घमलो – ये पाँचों कहानी में सतत सक्रिय रह पाते हैं, यह लेखक की उल्लेखनीय सफलता है। अपने सेठ या सेठानी इन दो में से किसी एक को समर्थन देने के स्थान पर चिट्ठी उठाकर अपनी राय ज़ाहिर करता धमला आज के मतदाता से बराबरी करता नज़र आता है। लेखक धमला की कक्षा के अनुकूल शैली में उससे कहानी प्रस्तुत करवाते हैं :

"उजेणी नगरी में शीतलसिंह और चंदनसिंह नामक दो राजपूत रहते थे। दोनों ऐसे दोस्त कि मानो देह अलग पर जीव एक। दिन उगे बिना रह पाए तो वे दोनों मिले बिना रह पाते। भगवान का ऐसा करना कि एक दिन शीतलसिंह पानी भरने के मार्ग पर जा रहा था कि सामने से चंदनसिंह की औरत दो गागर सर पर लिए चली आ रही है। शीतलसिंह ने चंदनसिंह की औरत को देख लिया। ये दोनों दोस्त हैं मगर शीतलसिंह ने चंदनसिंह की औरत को कभी देखा नहीं था। इसी तरह एक दूसरे के घर कभी गये नहीं। हररोज गाँव से सटे खुले मैदान में मिलते और घूमने निकलते या उजेणी नगरी जाते। पर एक दूजे के घर कभी गये नहीं थे। अब हुआ यह कि शीतलसिंह चंदनसिंह की औरत का रूप देखकर मोह गया। मन को लौट आने को बहुत समझाता है पर मन लौटता नहीं। (पृ. 179, रा. वि. पाठक ग्रंथावलि भाग–2)

सामान्य मुनष्य की बोली और लहजे के अनुसार लेखक ने (मूल गुजराती में) भाषारूप प्रयुक्त किया है। यहीं से कथारस जगता है और कहानी की गुत्थी भी यहाँ प्रस्तुत हो जाती है।

पति प्रेम और मित्र प्रेम की कसौटी, इसके अतिरिक्त पति की दृष्टि से पत्नी का शील और पत्नी की दृष्टि से अपना सतीत्व कैसे रक्षित हो? यह समस्या हल करनी है। मित्र की दशा का राज़ पा चुका चंदनसिंह पत्नी के समक्ष व्यथा व्यक्त करता है। पत्नी सतीमाँ के प्रति श्रद्धा के सहारे जोखिम उठाती है। शीतलसिंह उसके शयनखंड में आता है। मित्र की कटारी देखते ही पहचान लेता है कि यह किसका घर, किसकी पत्नी है। छत्तीस भोजन की थाली लेकर मित्र की पत्नी उपस्थित हो इससे पहले ही उस कटारी से वह आत्महत्या करता है। वचन का पालन कर न पाने के कारण चंदनसिंह की पत्नी उसी कटारी से

आत्महत्या कर लेती है। अंत में पवित्र पत्नी और विश्वसनीय मित्र खोनेवाला चंदनसिंह भी आत्महत्या करता है।

धमला द्वारा प्रस्तुत उपसंहार भी महत्त्वपूर्ण है। 'यों भगवान ने तीनों की लाज रक्खी पर तीनों को मरना पड़ा। उनकी लाज बची ऐसी सभी की बचे और उन्हें जैसे मित्र मिले ऐसे सभी को मिलें'

यह उस ज़माने की बात है जब मनुष्य को जीव की अपेक्षा टेक अधिक प्रिय थी। यह उपसंहार सुशिक्षित और बुद्धिवादी पात्रों के मुख से नहीं परन्तु अनपढ़ विश्वसनीय नौकर के मुख से प्रस्तुत करके लेखक ने मान्यता विषयक औचित्य निभाया है।

इस कहानी की वस्तु और अंत विषयक चर्चा में से मंडल के सदस्य भूतकाल का आश्रय लेते हैं और तीन बातें टालने का जिक्र करते हैं : विवाद, धन का लेनदेन और पत्नी के साथ परपुरुष का एकान्त – 'वाग्दादोड अर्थदानं च परोक्षे दार दर्शनम् ।' परन्तु आधुनिक युग में तो मानदंड बदल गये हैं। ये तीनों बातें मैत्री के लक्षणों में समावेश नहीं पा चुकी?

दूसरी कहानी के कुछ आरंभिक वाक्य देखें : वह थी तो एक साधारण श्रमजीवी औरत, पर कहानी की नायिका थी इसलिए रूपवती थी, फिर युवा थी इसलिए भी सुंदर।

एक सेठ के यहाँ वह काम करती। कोई नौकर जात काम करने के लिए पैदा नहीं हुई पर यह औरत तो काम करती ही रहती। या तो वह काम करने के लिए गाती, या गाने के लिए काम करती। उसके एक बेटा था वह भी गाने का एक कारण था ही। .....

यहां मंडल के सदस्य बीच में चर्चा शुरू करके सिद्ध करते हैं कि यह कहानी पहले पढ़ी है। यदि यह कहानी चोरी की गई हो तो कीमती सिद्ध हो। जिस वस्तु में विशेष सार न हो उसके विषय में ऐसे विवाद अधिक होते हैं। कहानी आगे बढ़ती है : 'खेमा सेठ मेरे प्रेम में हैं यह समझते नौकरानी को ज्यादा देर हुई नहीं। कामी सेठ और भली दासी का सम्बन्ध दीर्घ काल तक निभाना हो तो सेठानियों को एक के बाद एक मरना पड़ेगा।' समाज विषयक चेतावनी व्यक्ति को भी अछूता नहीं रखती।

हास्यकटाक्ष की झलक आगे भी है : 'घर घर में माटी के चुल्हे। दूसरे घर जाने पर दूसरा सेठ भी उस पर कुदृष्टि करनेवाला ही है तो दूसरे घर जाने से क्या फायदा?' (पृ. 193) नौकरानी उस सेठ के घर ही रहती है। इसके सात कारण देकर, उसकी बिरादरी के किसी पुरुष ने वैर से प्रेरित होकर उस औरत की नाक काट दी हो ऐसा नहीं था, परन्तु उस नौकरानी ने खुद ही कुरूप बनने के लिए अपनी नाक काट दी थी। 'हाश, अब इस स्त्री पर मोह करने से मैं बचा।' यों मन मनाकर सेठ खुश होते हैं।

नौकरानी के बेटे की शादी होती है। बहू एक दिन बोल बैठती है : 'आप की तरह मैंने नाक कटवाई नहीं है।' यह उलाहना सहन न होते नौकरानी सेठ के नाम चिठ्ठी लिखकर आत्महत्या करती है। चिठ्ठी पढ़कर सेठ मन में समझ जाते हैं, सोचते हैं : सती-सी यह नौकरानी अब जीवित हो तो मैं अपना सर्वस्व उसे दे दूँ, भले ही उसकी नाक कटी

हुई हो। नौकरानी का बेटा उस चिठ्ठी की ओर देखकर सोचने लगा। 'माँ, माँ! ऐसे पत्र लिखने जितनी तूने कब पढ़ाई कर ली? मुझे कहना तो था!'

प्रतीति का प्रश्न भी यहाँ अंत में व्यंग्य बनकर आता है। तो कहानी के दरमियान समझौता कर के अनीति की छूट देती मानसिकता के विषय में भी हलकी-फुलकी टोक होती रहती है। 'दोनों विधुर हो चुके थे इसलिए नीतिनियम तोड़ने की भूल होने नहीं दी।'

ये 'मेहफिले फंसाने गुयान' की कहानियाँ प्रयोग के तौर पर उल्लेखनीय हैं। पुरानी कहानियाँ, किस्से और दृष्टांतों के जमा–उधार पहलुओं का लेखा–जोखा भी इनके द्वारा सुलभ होता है। साथ ही साथ सामाजिक यथार्थ और मनोव्यापारों की संकुलता को तर्क की धार से ठेस पहुँचाए बिना विशद करने का प्रयत्न हुआ है। इसकी बदौलत गुजराती कहानी के तीसरे-चौथे दशक में प्रचलित रूप में कुछ खुलापन आया है।

कहानी – टीका, कहानीरूप टीका या टीकारूप कहानी के जो छः नमूने यहाँ प्रस्तुत हुए हैं उनमें धीरूबहन की ननद प्रमिला द्वारा कही गई रचना 'कोदर' में अतिरंजन का तत्त्व होने पर भी सामाजिक - मनोवैज्ञानिक कहानी का एक विरल दृष्टांत है। नौकर होने पर भी कोदर परिवार का सदस्य बनकर रहता है, सभी की तरह, सेठ के बेटे की तरह उसकी पत्नी की भी इतनी अधिक चिन्ता करता है कि उसमें से मालिकी भाव के बल्कि अस्मिता के सूक्ष्म प्रश्न खड़े होते हैं। परिणामस्वरूप सेठ का थका-हारा बेटा शान्तिलाल नाइलाज होकर कोदर को उलाहना देता है। कोदर सब कुछ छोड़कर चला जाता है, खुले में रहने के कारण ठंड का शिकार हो जाता है। परन्तु मरने से पहले सीढ़ियों तक पहुँचकर सलाह देता है : 'बहुरानी, भाई कुछ भी कहें, पर उन्हें आज मसाला डालकर ही चाय पिलाना। वरना सर्दी हो जाएगी। बाबूजी ने कह रखा है।'

इसके बाद मालती कोदर के विषय में भावपरिवर्तन का अनुभव करती है और पति शान्तिलाल से उसकी निकटता जगती है। इस कहानी की वस्तुसंकलना प्रतीतिजनक है। कोदर जैसे नौकर बीते युग के गहने जैसे हैं, फिर भी घर की नववधू के लिए कोदर का होना बाधक बन गया था। कैसी संकुल होती हैं ऊर्मियाँ! कोदर की बिदा ही उसकी कीमत समझाती है।

कहानी विनोद मंडल की सब से कम उम्र की सदस्य और कुमारिका प्रमिला सब से अच्छी कहानी कह पाती है, इसमें भी वक्रता लक्षित होगी।

चौथी कहानी प्रथम कहानी की प्रतिकृति जैसी है। वह आधुनिक युग की है यह सूचित करने के लिए धनूभाई स्थल शहर का पसंद करते हैं। कारण देते हैं : 'गुजरात के गाँवों में तो अब पुरानी और नई दोनों संस्कृतियों का कूडा ही इकठ्ठा हो रहा है – पाँच दशक के बाद इस कथन की प्रासंगिकता कम होने के बजाय बढ़ी है।

गांधीजी से प्रभावित सत्याग्रही की कक्षा तक पहुँचे मित्र हैं हरिभाई और दीपकराय। कथाबीज इतना ही है : हरिभाई की पत्नी दीपकभाई को दवा लगा रही थी। तभीं दीपकभाई को स्पर्श का विजातीय असर हुआ और उन्होंने प्रायश्चित करने का निर्णय किया : 'जो

दवा लगाते मुझे दुष्ट विचार आया वही दवा पीकर जीवन का अंत लाना यही सही न्याय होगा।'

आत्महत्या के प्रयत्न में दीपकभाई सफल नहीं होते। परन्तु पापग्रंथी से मुक्त नहीं हो पाते। तब उनके पास पहुँचकर हरिभाई समझाते हैं : 'स्त्री के स्पर्श से मन आकर्षित हो यह अति विरल दृष्टांत है ऐसा आप को लगता है? कोई भी पुरुष स्त्री के स्पर्श के आकर्षण से मुक्त – केवल ऊर्ध्व हो ऐसा आप मानते हैं?'

इस कहानी में बहस का हिस्सा कुछ ज्यादा है, और वह रसप्रद भी है। जीवनप्रवाह विषयक कुछ निरीक्षण उल्लेखनीय हैं। 'पुराने ज़माने में प्राण लेकर या देकर समझौता होता था वहाँ अब जीवित रहकर मन को मनाया जाता है।' (पृ. 231)

यहाँ धीरूबहन का एक वाक्य सूचक है। 'हम कहानी के विषय में प्रयोग करने एकत्रित हुए हैं, कहानी के लिए मनुष्य पर प्रयोग करने नहीं।'

बीसवीं शताब्दी के सातवे दशक की गुजराती कहानी के क्षेत्र में प्रयोगदास्य में जोखिम न देखते कलावादियों ने कहानी में से विषयवस्तु का ही महत्त्व कम कर दिया, जीवन की व्यापकता और संकुलता को इष्ट माना नहीं, यदि वे रा. वि. पाठक को ठीक से समझ लेते तो अपनी ऊर्जा के दुर्व्यय से बच जाते। दसवें दशक तक आते आते गुजराती कहानीकार जीवन के व्यापक अनुभव और कला के मानदण्डों के बीच संतुलन की आवश्यकता समझ चुके हैं।

पाँचवीं सभा में मंडल की अध्यक्षा धीरूबहन अपने पद के गौरव के अनुरूप परंपरागत तथा हलकी-फुलकी कहानी कहती हैं। एक काना लूटेरा है जमाल। दूसरा काना है कमाल, जो मुफ्त में तेहरान दिखाने के बहाने जमाल को धोखा देता है। तेहरान का बादशाह केखुशरू आखिर उन्हें सज़ा देने के बजाय अपने राज्य के दो प्रतिबंध दूर करता है। 'काने को नौकरी न देना और सभा में हँसना नहीं' – ये नियम अब नहीं रहेंगे। यह कथानक बहलाकर प्रस्तुत किया है। कथारस का निर्वाह होता रहा है।

छठी – आखिरी सभा में 'कथा विनोद मंडल के प्रवक्ता वसंतभाई कुत्ते का अवतार लेकर पुन: पुरुष बनने की अभिलाषा रखने वाले पात्र द्वारा प्राणीकथा प्रस्तुत करते हैं। कुत्ते के बर्ताव और उसकी मन:स्थिति का निरूपण लेखक की निरीक्षणशक्ति के प्रति आदर जगाता है। अंत में श्लील-अश्लील की चर्चा भी होती है, लेखक उत्तर के रूप में कल्की में से उद्धरण भी देते हैं। 'मुझे ऐसा भय रहता है कि प्रजाएँ कुत्तों की तरह एक-दूसरे के गुह्यांग सूंघने के लिए नज़दीक आती हैं' – कार्लाइल का यह कथन आज भी पुराना नहीं हुआ।' श्वान के निमित्त कहानी सारी मनुष्यजाति की लाक्षणिकता सूचित कर देती है। कटु सत्य कहने के लिए इससे बेहतर उक्ति या युक्ति संभव थी?

किशोरलाल मशरूवाला ने 'गांधीविचार दोहन' में वेश्या के कमरे का वर्णन करना भी मना किया था। इस युग के मूल्यनिष्ठ लेखक रा. वि. पाठक जीवन की बात करते समय कुछ घटाने के बजाय पहले के बाकी को पहचानने का प्रयत्न करते हैं। जोखिम

उठाने की स्थिति में हास्यविनोद की सहायता से औचित्य और प्रतीति के प्रश्न हल करते हैं। इस क्षेत्र में वे ऐसी कुशलता दिखाते हैं कि पाठक के मन का समाधान अनायास हो जाता है।

जीवन साधना के एक आधार के रूप में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा भले हो, परन्तु यौन-ऊर्जा की अवहेलना न हो यह रा. वि. पाठक की कहानियों का एक कथ्य है। 'अंतिम दांडक्य भोज' और 'उत्तर मार्ग का लोप' दोनों प्रबल रहस्यतंतु का निर्वाह करती, व्यतीत का आभास कराती समर्थ अभिव्यक्ति सिद्ध करती कहानियाँ हैं। यौन-ऊर्जा के प्रभाव के संदर्भ में भी इनका मूल्यांकन किया जा सकता है। 'अंतिम दांडक्य भोज' में बिना संतति की कामना के, निरे स्वार्थी उपभोग का करुण अंत वर्णन की भव्यता के साथ पाठक के संवेदन को घेर लेता है। तो 'उत्तर मार्ग का लोप' असहज इन्द्रिय निग्रह के अतिरेक के विरुद्ध चेतावनी देती कहानी है। इसमें मुखरता नहीं है। साधक युगल का आत्मविलोपन परोक्ष रूप में उन्हें दंड ही है। पाठक के संवेदन में कहानी करुण रागिनी जगाती है। 'कोदर' में एक दूसरे की शुभकामना को सही समय पर समझ न पाने के कारण चरित्रों की गलतफहमी करुण का निमित्त बनती है। 'उत्तर मार्ग का लोप' के करुण अंत का निमित्त चरित्र के भीतर नहीं, बाहर है – मार्ग में, पद्धति में।

'कोदर' कहानी क्यों अधिक मार्मिक बनी है? कोदर जैसे समर्पित और मालिक का भला चाहते जिद्दी नौकर बीते ज़माने में हो गये, ऐसी प्रतीति के कारण? यह भी एक स्वीकार्य स्पष्टता है।

केशवराम विद्वान और भैरव का इष्ट मंत्र जाननेवाला ब्राह्मण है। पुत्रहीन है, परंतु स्वार्थ के लिए मंत्र की साधना करनी नहीं चाहिए ऐसा मानता है। भागवत में क्रोध को चांडाल कहा है यह जानते हुए भी क्रोध करता है। बदला लेने के लिए साधना करता है। परिणाम स्वरूप शत्रु की मृत्यु के बाद पत्नी को भी गँवाता है। संन्यास ग्रहण करता है। मंत्र किसी को न देकर विसर्जित करता है। 'दिव्य हुए बिना दिव्य शक्ति नहीं लेनी चाहिए।' कहानी बोधक है, फिर भी इसका निरूपण साद्यंत वास्तविक लगता है।

'दो भाई' में बड़े भाई की ईर्षा और स्वार्थ सारे परिवार का, उसकी अनुगामी पीढी का कैसे विनाश निमंत्रित करता है, यह निष्कर्ष भी वास्तव से हटे बिना हुआ है। शास्त्र, कर्मकांड और समूह श्रद्धा को एक स्थापित हित की तरह प्रयुक्त करते कुछ ब्राह्मणों का रा. वि. पाठक को गहरा परिचय होगा, अनुभव होगा। समाज के प्रत्येक वर्ग का उनका निरीक्षण अनन्य है। बुद्धिविजय जैसे जैन साधु से लेकर अंत्यज खेमी तक ।

'खेमी' गांधीयुगीन मानवतावाद का विरल आविष्कार है। भंगी समाज की यह युवती अपनी टेक, सहनशीलता और स्वाश्रय के कारण अविस्मरणीय चरित्र बनकर उभर आती है। शादी के पहले की शर्तें भूलकर पति धनिया अंत में शराब के कारण ही कर्ज छोड़कर मरता है। खेमी दूसरा ब्याह नहीं करती। बिरादरी वाले समझाते हैं फिर भी वह कहती है: अब इस जिंदगानी पर पैबन्द लगाना नहीं चाहती।

117613

यह कहानी माध्यमिक कक्षाओं की पाठ्यपुस्तक में दशकों तक छात्र पढ़ते आए। परन्तु सातवें-आठवें दशक में कुछ दलित कार्यकर्ताओं ने कहा कि यह कहानी हरिजन समाज–भंगी समाज का जो चित्र प्रस्तुत करती है वह हमारे समाज के लिए हानिकारक है। सरकार पर दबाव बढ़ने पर कहानी पाठ्यपुस्तक से निकल गई। खैर, मूलत: कहानी नारी के संयम और त्याग का गौरव करती है। खेमी का चरित्र सवर्णों के लिए भी नेत्रदीपक है। साहित्य के इतिहासकार दलित चेतना और नारी चेतना की बहस का आरंभ यहाँ से कर सकते हैं। एक दूसरी कहानी 'सौभाग्यवती' भी रा. वि. पाठक की नारी भावना का अनूठा दृष्टांत है। उम्र बढ़ने पर भी पति की कामासक्ति से बच न पाती दो प्रौढ महिलाएँ यहाँ समान दु:ख के भिन्न हल पाती हैं। श्रमजीवी ग्वालन स्वतंत्र रहने का निर्णय कर जीती है जबकि उच्च वर्ग की सुशिक्षित नारी अंत में मर जाती है। 'सौभाग्यवती' होने में जो व्यंग्य है – रा. वि. पाठक की लेखनी की विशेषता है।

'मुकुन्दराय' संभवत: सर्वाधिक लोकप्रिय कहानी रही। इसका नाट्य-रूपान्तर भी बार बार खेला गया। पिता रघनाथ और बहन गंगा गाँव में रहते हैं। कॉलेज में पढ़ता मुकुन्दराय अपने श्रीमंत मित्रों के साथ गाँव आता है। शिक्षा ने मुकुन्दराय को पारिवारिक स्थिति से विमुख किया है और रहन सहन के शहरी ख़यालों से उसका बर्ताव भी खोखला हो गया है। पिता अंत में निर्भ्रान्त होकर सूचित करता है कि इससे तो पुत्रहीन होना अच्छा था। रा. वि. पाठक जैसे बड़े लेखक की तटस्थता रघनाथ के पात्र के माध्यम से कुछ विक्षिप्त होने लगती है, फिर भी उच्च शिक्षा ने नई पीढ़ी को पारिवारिक यथार्थ से किस प्रकार उन्मूलित किया है इसका यह निर्मम चित्र है। रघनाथ ने नि:संतान होने की कामना विमलशाह के कथानक द्वारा सूचित की है। यह कहानी सुनते सुनते बेटी गंगा अंत तक उत्साह नहीं टिका पाती। तीसरी बार भी कुल का उच्छेद माँगते उद्‌गार के बाद वृद्ध रघनाथ नीरव शांति में पहुँच जाते हैं, घर में मातम छा जाता है। पुत्र के भविष्य को लेकर क्या क्या सपने देखे थे! हुआ विपरीत। असंतोष, पीडा, करुणता .... कहानी करुण रस के निकट पहुँच कर रुक जाती है।

संरचना और कथ्य की दृष्टि से 'बुद्धिविजय' कहानी अनन्य है। सामान्य लेखक इसे जीवनी बना देता, परन्तु रा. वि. पाठक ने एक व्यक्ति का समग्र जीवनपट आलेखित करते हुए भी इसे सर्जनात्मक रचना सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है। महत्त्वाकांक्षी मन का गहन अध्ययन यहाँ लेखक ने व्यक्त किया है। कहानी के करुण अंत में इसकी संरचना की धुरी है।

दीक्षा पाकर बुद्धिविजय बने जिनदास के जन्म से लेकर अंतकाल तक की अवधि में लेखक ने छोटे छोटे अनेक प्रसंग आलेखित किये हैं। अपने विषय में सजग हो जाने के बाद बुद्धिविजय के मन में लेखक ने अनेक ज्वार-भाटों की सृष्टि खड़ी की है। आकांक्षा के कारण बुद्धिविजय में मानवता के स्थान पर अस्मिता खिली है। तप के स्थान पर वह प्रताप का उपासक बनता है। धर्म का प्रचार भी उसकी निजी कीर्ति की स्थापना पर

अवलंबित हो ऐसा उसे लगता है। ज्योतिषशास्त्र का उसका अध्ययन तथा राजकुमार की त्वचा का रंग बदलने का प्रयोग उसकी धर्मनिष्ठा के साथ संगत था या नहीं यह उसके गुरु ने कहा ही था। उसकी उपेक्षा करके उसने महत्त्वाकांक्षी प्रयोग किया यह उसके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंश है, इसकी प्रतीति पाठक को होगी।

आचार्य तपोविजय जी ने जिनदास को माँग लिया था परंतु 'तप्त कांचन-सी जिसकी काया हो वह मनस्वी हो सकता है और स्त्रियों को प्रिय होता है' इस मान्यता के कारण जिनदास को दीक्षा दी जाये या नहीं इस विषय में उन्होंने द्विधा अनुभव की थी। सगाई और दीक्षा विषयक बातें जिनदास छिपकर सुनता है – यहाँ कहानी की भूमिका तैयार हो गई है। स्त्रियों को आकर्षित करने में सक्षम अपने तप्त कांचन वर्ण का उसे अभिमान होता है, साथ ही साथ संन्यास ग्रहण करके जैन-शासन के धारक बनने की महेच्छा जगती है। आचार्य जिनदास को रोकने के लिए कहते हैं कि ज्योतिष मिथ्याश्रुत है, परन्तु उन्होंने ज्योतिष के ज्ञान का उपयोग करने का प्रलोभन छोड़ा नहीं है। अत: बुद्धिविजय को सही दिशा में मोड़ना उनके बस की बात नहीं।

बुद्धिविजय के व्यक्तित्व के विकास के साथ उसकी बढ़ती प्रतिष्ठा के साथ कहानी गति पाती है। 'आधा समझती – आधा न समझती जनता ने सहस्त्र जिह्वाओं और सहस्त्र नयनों से उसको रोयें रोयें में सतर्क कर दिया। इसकी प्रत्येक क्रिया में अद्‌भुत छटा दिखाई देने लगी।' बुद्धिविजय का प्रभाव बढ़ता गया। राजा ने उसकी तेजस्विता की, त्याग की, संयम की प्रशंसा की तब तपोविजय जी ने कहा – 'देह की कांति का अभिमान क्यों? भौतिक उपायों से भी देह ऐसी की जा सकता है।' बुद्धिविजय की आकांक्षाएँ उत्तेजित हुईं। गुरु को प्रसन्न कर के उसने गुरु द्वारा पढ़ी गईं पोथियाँ पढ़ने की संमति प्राप्त कर ली। एक पोथी से उसे 'सुवर्णप्रयोग' के चार पृष्ठ प्राप्त हुए। यहाँ से कहानी मोड़ लेने लगती है। गुरु साशंक हो गए। बुद्धिविजय ने क्या जान लिया है इसका गुरु को पता चला। उन्होंने अग्राह्य पदार्थों की भाँति ग्रंथों को खड्डे में रखवाया। बुद्धिविजय ने शोक और प्रायश्चित की मुद्रा धारण की, फिर भी उसकी आँख में गुरु एक प्रकार की विजय पहचान गये।

बुद्धिविजय 'मुद्रा' धारण करता है। गुरु द्वारा लेखक पाठक को बुद्धिविजय के मायावी व्यक्तित्व का परिचय करा देते हैं। मृत्यु से पूर्व गुरु ने एकान्त में बुलाकर उसे कहा था – वह आटविक प्रयोग कभी मत करना। परन्तु बुद्धिविजय ने तो इसके बाद आगे बढ़कर फल ज्योतिष से सभी को चकित करके अनेक राज्यों में अपना वर्चस् जमाया। त्वचा का वर्ण बदलने का प्रयोग करने का भी उसे अवसर मिला। यहाँ से कहानी के अंत का आरंभ होता है। राजकुमार का वर्ण बदलने का प्रयोग सफल हो तो महाराज को जैन धर्म का स्वीकार करना था। प्रयोग के समय महाराज को उपस्थित रहना न था, फिर भी वे उपस्थित रहे और राजकुमार की पीडा उन्होंने देखी। बुद्धिविजय का सर काट लाने के लिए तीन अश्वारोहियों को हुक्म दिया। परन्तु इसके बाद प्रयोग सफल होता दिखा। उन अश्वारोहियों को रोकने राजा स्वयं गये। ..... बुद्धिविजय उन अश्वारोहियों को समझा रहा

था, रोक रहा था। तीसरे प्रहर उन्होंने दूर से राजा की उँटनी देखी। उन्होंने बेचैन होकर एक साथ अनेक प्रहार करके बुद्धिविजय को खत्म किया।

इस कहानी में लेखक स्वयं कहीं लिप्त नहीं हुए। 'मुकुंदराय'में वे स्पष्ट रूप से राय देना चाहते हैं। इस कहानी में लेखक की कोई मान्यता व्यवधान नहीं बनती। अंत में आती चमत्कृति भी किसी युक्ति पर आधारित नहीं है। बुद्धिविजय की कार्यकिर्दगी के साथ कहानी का अंत संलग्न होने के कारण चमत्कृति अधिक प्रभावक बनी है। जो बचाने जाता है उसे देखते ही घातक अपना कार्य तुरन्त संपन्न करते हैं। बुद्धिविजय का प्रताप, कीर्ति की उसकी कमाई – यह सब अन्य लोगों की गलतफहमी के कारण नष्ट हो जाता है। मनुष्य की आकांक्षा, उसकी कीर्तिलालसा के परिणाम में उसकी नियति का अंश भी किस प्रकार मिल गया है! मनुष्यजीवन के अर्थों की संकुलता का अनुभव होता है।

यह कहानी प्रसंगबहुल है और सभी प्रसंग संदर्भ रचकर एक गतिशील घटना को आकार देते हैं। कहानी में बुद्धिविजय वृक्ष की तरह विकसित होता है और विकासशील वृक्ष यकायक धराशायी हो जाता है।

लेखक ने इतिहास के आभास का समुचित विनियोग किया है। Illusion of Reality – यथार्थ के आभास द्वारा कहानी की सृष्टि को प्रतीतिजनक बनाने का प्रयत्न प्रभावक है। इससे कहानी अधिक ग्राह्य हुई है। प्रस्तुत कहानी की संयोजना क्रमबद्ध है और इसे छिपी तार्किकता का आधार प्राप्त है। फिर भी लेखक की युक्तियाँ कहीं मुखर नहीं हो जातीं। बुद्धिविजय का सारा जीवनपट, उसमें आते अनेक प्रसंग मिलकर नियत दिशा में आगे बढ़ते हैं और कथावेग की पूर्ति करते हैं। कहानी की सुबद्धता निखर आती है।

'जक्षणी' कहानी में कथानक प्रोषितपत्निक का है। 'सौभाग्यवती' में दाम्पत्य करुण में परिणत होता है जबकि 'जक्षणी' में प्रसन्न स्नेहसम्बन्ध फलित होता है। मज़ाक का भी सर्जनात्मक विनियोग हो सकता है इसका यह दृष्टांत है। हास्य का निमित्त बनता है महाराज का चरित्र।

अनुगामी तीन पीढियों के समीक्षकों ने रा. वि. पाठक की कहानियों का विभिन्न अभिगम से मूल्यांकन किया है। रचनारीति के प्रयोग, रचनाप्रक्रिया में परिस्थिति की भूमिका, वक्रता का तत्त्व, मनोवैज्ञानिक अभिगम, नारी-चित्रण, जीवन दर्शन, नाट्यतत्त्व का विनियोग, जैसे लक्षणों के कारण यह कहानीकार अपने समय की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है। डॉ. चिमनलाल त्रिवेदी लिखते हैं :

"नये जमाने के स्नेहजीवन के, कामप्रबलता के प्रश्नों का निरूपण करने के लिए उन्होंने अपने बदलते दृष्टिकोण की सहायता लेकर, नये-पुराने मूल्यों का पृथक्करण करके, उसकी प्रबल मुद्रा पाठक के चित्त पर अंकित करने के लिए, विधिदत्त विषमता को इसमें संयोजित किया है और कहानी के निजी अर्थघटन द्वारा समझाया भी है। (पृ. 245, परिशीलन ग्रंथ)

4

निबंध

हास्यविनोद और गंभीर चिन्तन को निबन्ध के रूप में प्रस्तुत करने की नैसर्गिक प्रतिभा रा. वि. पाठक में थी। निबंध के विविध प्रकारों को 'विहार' संज्ञा से उन्होंने जोड़ा। अपने में बसे हास्यकार को उन्होंने 'स्वैर विहारी' कहा। उनके विविध निबंध संचय निम्नलिखित हैं :

1. स्वैरविहार भाग – 1 (1931)
2. स्वैरविहार भाग – 2 (1937)
3. मनोविहार (1956)
4. नभोविहार (1961)

क्रमांक 3 और 4 का प्रकाशन मरणोत्तर है। रा. वि. पाठक ग्रंथावलि के तृतीय खंड में सारे निबंध संकलित हैं (1991) यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रा. वि. पाठक के कई समीक्षालेख निबंध की तरह सुबद्ध हैं।

(1) हास्यनिबंध –

जिस प्रकार रा. वि. पाठक का कवित्व सर्वव्यापी है उसी प्रकार उनका नर्म मर्म प्रधान हास्य भी सभी विधाओं में लक्षित होता है। वह कहीं बाधक नहीं बनता, साधक बनता है। यंत्र के पुर्जों को तेल का सिंचन मिलने पर क्या फर्क नज़र आता है इसे सब नहीं जान सकते। रा. वि. पाठक के लेखन की प्रासादिकता और विशदता के मूल में हास्यकार के रूप में उनकी प्रतिभा का पोषण निहित है। उन्हें 'स्पष्टार्थ गद्यलेखक' पसंद हैं। ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि जो लेखक हास्यकार हो वह लोकप्रिय न हो। किसी प्रकार का भार नहीं, सतत सहज प्रतिभा का आविष्कार।

रा. वि. पाठक संस्कृतिपुरुष थे। सतत गुणविकास पाते समाज में 'संस्कृति' से बढ़कर कोई शब्द नहीं। गांधी युग को सुधारक युग कहा जा सकता है। सुधार सपाट होता है जबकि संस्कृति जीवन और जगत की संकुलता की उपेक्षा न करते हुए उसे बाँहों में लेती है। ये बाँहें कभी सुदामा की लगती हैं, कभी श्रीकृष्ण की, वास्तव में होती हैं एक। रा. वि. पाठक के स्वैर विहार में दृश्य को चारों ओर से देखने का अभिगम होता है।

जिस युग में देहलग्न और प्रेमलग्न से उच्चतर मनाते 'आत्मलग्न' की विभावना रेखांकित की जा रही थी, उस युग में विवाह की वास्तविक स्थिति क्या थी? रा. वि.

पाठक का एक लघुनिबंध है – 'किस क्रिया में मनुष्य सब से ज्यादा बेवकूफ दिखाई देता है?' खाना, पीना, सोना, बैठना, उठना – किस क्रिया में? रा. वि. पाठक का उत्तर कुछ और ही है :

मुझे अन्य प्रजाओं के विषय में तो अधिक जानकारी नहीं है परन्तु हिन्दुओं में तो मनुष्य ब्याहने बैठता है तब सब से ज्यादा बेवकूफ दिखाई देता है, ऐसा मैं मानता हूँ। सब से पहले तो यह सवाल है कि हिन्दुओं में मनुष्य स्वयं ब्याह करता है या और लोग ब्याह करवाते हैं? और लोग यदि उसका ब्याह करवाते हैं तो वे अपने लिए उसका ब्याह करवाते हैं या केवल ब्याह करवाने के लिए करवाते हैं? या किसी और प्रयोजन से? या बिलकुल बिना प्रयोजन? इस मूल क्रिया की बेवकूफी उसके अंगप्रत्यंग में और उसके संसर्ग में आते सभी मनुष्यों में व्यक्त होती है। इस बेवकूफी का शिकार बेचारा वरराजा होता है। उसे कहा जाए कि बैठ तो बैठ जाता है, 'उठ' कहने पर खड़ा होता है। हाथ जोड़ना, घोड़े पर बैठना, पगडी पहनना, कंधे पर दुपट्टा डालना, जूते पहनने जैसी सभी क्रियाओं में मनुष्य को स्वतंत्रता होती है, वे सभी यहाँ दूसरों के इशारों या आदेशों पर अनिवार्य रूप से उसे करनी पड़ती हैं। उसमें उसकी अपनी कोई राय नहीं। एक छोटा बच्चा अपने आप 'मम' कहना सीखता है और कहना हो तभी कहता है। परन्तु वरराजा का ब्राह्मण कहलवाये तब 'मम' कहना, हाथ पकड़ना, हस्तमिलाप करना, कन्या के गले के आसपास हाथ रखना, – यह सब ब्राह्मण के कहने के अनुसार उसे करना होता है। ऐसी उपहसनीय परवशता जगत के किसी अन्य प्राणी की मैंने देखी नहीं। शायद मदारी मर्कट को और रतनबाई को खेलाता है तब ऐसी परवशता दिखाई देती है। हिन्दू यह जानते हैं। अतः मदारी ज्यों अपनी डुगडुगी से, मुरली से और विचित्र वेश से खेल की घोषणा करता है, वैसे ही हिन्दू भी लग्न की घोषणा इसी प्रकार करते हैं। बाजे बजवाते हैं और मदारी से भी अधिक विचित्र वेश पहने बाजेवाले, साजन, वरराजा आदि को रखते हैं। (पृ. 47 – 48, स्वैरविहार भाग–1)

यहाँ एक दृश्य यथातथ रखा है। सात दशक के बाद इक्कीसवीं सदी में भी यह दृश्य हिन्दुस्तान में अपनी असलियत बचा रहा है। इसमें अतिशयोक्ति तो नहीं है, जबकि सारे हास्यकार अतिशयोक्ति का सहारा लेते हैं। पाठक साहब को अतिशयोक्ति इष्ट नहीं। क्यों कि ज्ञान की प्रत्येक उपासना उनके लिए सत्यनिष्ठ थी। जो हास्यकार सुधार और संस्कार को लक्षित करके लिखते हैं वे अतिशयोक्ति पर निर्भर नहीं रहते। उपर्युक्त उद्धरण में जिस अल्पोक्ति की संभावना थी वह भी नहीं दिखाई देती। सामाजिक और सांप्रदायिक विधियों की जड़ता सूचित होती है और लग्न के मूल में रहा वरण और सख्य का आदर्श ध्वनित होता है। बालक की बोली का 'मम' उसकी कुछ खाने की इच्छा व्यक्त करता है। साथ ही संस्कृत के निजबोधक 'मम' का श्लेष भी यहाँ उद्दीष्ट है। लेख में आबालवृद्ध वरराजाओं का उल्लेख करने के बाद हास्य के विभाव के विषय में बात करते हैं।

'हिन्दुओं का खास सायंस' में अस्पृश्यता को लेकर प्रजा के विरोधाभासों को लीलया उभारा है। ऐसे कई लेख शैक्षणिक सामग्री बनकर अनुगामी पीढ़ी के लिए आशीर्वाद रूप बने हैं। 'खेमी' कहानी की आलोचना करनेवालों ने रा. वि. पाठक का स्वैरविहार देखा होता तो यह पता चलता कि अस्पृश्यता और असमानता के विरुद्ध उन्होंने सतत लिखा है। एक लेख एहवाल के प्रकार का है: 'द्वितीय छात्रालय संमेलन'। व्यापक जीवन क्षेत्र में दाखिल हो जाती एकांगी और स्वार्थी दृष्टि के विषय में यहाँ नोकझोक है। एक दृष्टान्त पर्याप्त है :

"एक बार एक राजा ने देखा कि एक साधु पैर पर हाथ रखकर लहू निकालकर पैसे माँग रहा है। राजा ने सोचा कि यह साधु एक पैसे के लिए खुद शरीर पर घाव करता है तो ऐसे साधुओं को सेना में तनख्वाह देकर रखा जाए तो साधुओं की बड़ी बहादूर टुकडी तैयार होगी। राजा ने ऐसी टुकडी तैयार की। राजा पर किसी शत्रु ने आक्रमण किया। मंत्री ने साधुओं की टुकडी शत्रु के सामने भेजने की सलाह दी। शत्रु से भिड़ने से पहले 'हर हर महादेव' या ऐसा कोई युद्ध नारा लगाने के बजाय वे कहने लगे : 'रग समाल के लड़ना।'

साधु जब पैसों के लिए लहू निकालते थे तब मुख्य नस कट न जाए इसका ध्यान रखके घांव बनाते। यहाँ शत्रु के विरूद्ध लड़ने में भी वे मुख्य नस को बचाकर लड़ने की एक दूसरे को चेतावनी देने लगे।" (पृ. 92, स्वैर विहार)

आज के संदर्भ में भी यह दृष्टांत और इसमें छिपा कथ्य कैसा सूचक है! समाज के विविध वर्ग अपने आप को नुकसान न हो इसकी सावधानी रखकर अनिश्चित मुद्दत की हड़तालें करते हैं। राष्ट्रीय कक्षा की कई हड़तालें देखने को मिलती हैं, नेता भरोसा देते हैं कि हड़ताल के दिनों की तनख्वाह कटेगी नहीं। 'रग समाल के' लड़ा जा सकता है।

दृष्टांत जैसे कई किस्से रा. वि. पाठक ने स्वयं भी रचे हैं। कभी निर्हेतुक हास्य के लिए भी। भाषण सफल हो इसलिए बाजे बजवाने का किस्सा इसी प्रकार का है। बाजे सुनने के लिए इकठ्ठा हुई भीड़ को भेद कर वक्ता मंच तक पहुँच नहीं पाते! जिसके लिए यह आयोजन था उसे लौटना पड़ता है।

कवि-समीक्षक बलवंतराय ठाकोर अहमदाबाद आये, इसके परिणाम स्वरूप जो विवाद और प्रतिलहरियाँ जगीं, इसका वर्णन करके साहित्य की सृष्टि के लिए प्रयोजित 'साहित्य कुंज' के स्थान पर 'साहित्यकुंड' शब्द का क्यों प्रयोग हुआ इसकी स्पष्टता रा. वि. पाठक ने की है। चं. ची. महेता कृत नाटिका 'मेंढकों को तराजू में तौलना' (देडका नी पांचशेरी) का यहाँ स्मरण होगा। लेखकों को इकठ्ठा रखना यह तराजू में मेंढकों को स्थिर रखने जैसा विकट कार्य है।

'संस्कृति' पत्रिका के समीक्षा - विशेषांक में उमाशंकर जोशी ने 'छेद उड़ाना शैली' का उल्लेख किया था। इसी विषय को रा. वि. पाठक तार्किक पद्धति से प्रस्तुत करते हैं: कवि न्हानालाल कहते हैं कि बलवंतराय कवि नहीं हैं। बलवंतराय कहते हैं कि नरसिंहराव कवि नहीं हैं। इस प्रकार सभी के छेद उड़ाये जा सकते हैं।

आजकल के कवि वनस्पति विषयक अज्ञान रखते हैं इस विषय में रा. वि. पाठक कहते हैं : 'यह अज्ञान आधुनिक है।' आधुनिक लेखक भी जब वैज्ञानिक दृष्टि छोड़कर कल्पना-विलासी रोमाण्टिक बने रहें तब उनका आधुनिक अज्ञान किसी पुरानपंथी को सोचने के लिए मजबूर करेगा।

'खराब करने की कला' में कोई पाठक पुस्तक पढ़ते पढ़ते उबकर – 'लेखक गधा है' और 'यह लिखने वाला गधा है' – ऐसा लिखकर अपनी राय देता है। दूसरा वाक्य टिप्पणी करनेवाले को भी लागू होता है। – यह तथ्य रा. वि. पाठक रेखांकित करते हैं। आगे प्रश्न करते हैं : उपार्जन के लोभ से मुंबई जा रहा व्यापारी रास्ते में संकट निवारण के काम से गाडी से उतर जाए तो ऐसा लगेगा कि उसने विषयान्तर किया और दो दिन के बाद वह मुंबई गया। रा. वि. पाठक पूछते हैं कि विषयान्तर कौन सा? उसने संकट निवारण का काम किया वह या कमाई के लिए मुंबई गया वह?

सामाजिक निस्बत, दूसरे को नुकसान न हो इसकी सावधानी – यह भी गांधीयुग की भावना। इसके बड़े भारी अपवाद रा. वि. पाठक ने अपने समकालीनों में देखे थे – यह सूचित करने के लिए उन्होंने 'विश्वामित्र की ब्रह्मप्राप्ति' नामक दो पृष्ठ लंबा संवाद लिखा है। जिसमें देवी से विश्वामित्र कहते हैं कि 'मुझे तप करना पसंद नहीं है परन्तु मेरी महान सुंदर आकांक्षा की खातिर तू प्रसन्न हो।' विस्तार से अपना पक्ष रखकर विश्वामित्र कलियुग में ब्राह्मण होने की इच्छा व्यक्त करते हैं। कारण पूछने पर बताते हैं : 'किसी पर उपकार किये बिना, किसी को उपयोगी हुए बिना मैं विश्ववंद्य बनूँ ऐसी मेरी महान आकांक्षा है।'

यह लेख बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में लिखा गया था। देवी ने विश्वामित्र को सुझाव दिया था : यदि कला में सफलता न मिले तो कलह करना। कलह में चोट लगने की विश्वामित्र को दहशत है, रक्षण माँगते हैं। देवी उन्हें कवच देती हैं, ताकि असत्य या सत्य किसी का उनपर असर न हो।

हमारे विद्वानों और निष्णातों की मानवता कैसी होती है इस विषय में रा. वि. पाठक सतत लिखते रहते। 'धर्म और विज्ञान' नामक लेख में वे कहते हैं : 'सती को जीना हो पर धर्म में कहा हो कि उसे जल मरना चाहिए तो बिना जले क्या चल सकता है? ऐसा कार्य लोगों ने बाद में विज्ञान के खातिर शुरू किया। धर्मानंद कोसंबी द्वारा कही बात रा. वि. पाठक उद्धृत करते हैं :

''एक पोर्चुगीज़ जहाज गोवा की ओर आ रहा था। उसमें एक खलासी बीमार हो गया। उसकी जाँच पड़ताल करके डॉक्टर ने कहा कि यह खलासी सुबह मर जाएगा, तब उसकी लाश पानी में फेंक देना। सुबह अन्य नाविक उसको उठाने लगे तब उसने कहा: 'भाई, मैं तो जिन्दा हूँ।' नाविकों ने जवाब दिया : 'अबे, तू हमारे डॉक्टर से ज्यादा समझदार है?'

इसके बाद तो बाँये पैर के स्थान पर दाहिना पैर काट देनेवाले डॉक्टर भी पैदा हो चुके हैं।

भोजन के विषय में लिखते हुए भृगु-वरुण का संवाद उद्धृत करके 'अन्नब्रह्म' का मर्म समझाकर विज्ञानदृष्टि से ज्ञानेन्द्रियों का विकास समझाया गया है।

'सभी ज्ञानेन्द्रियाँ मुख के आसपास ही विकसित हुई हैं, मानो खाने की क्रिया में सहायक होने ही विकसित हुई हैं। प्राणी खाना खाए तब उसे खाते खाते स्वाद का अनुभव हो इसलिए स्वादेन्द्रिय मुख में ही विकसित हुई। खाते खाते ही गन्ध का भी अनुभव हो इसलिए ठीक मुख के ऊपर ही नाक रखी, और खाने की चीज़ें दिखाई दें इसलिए उसके ऊपर आँखें तरतीब से रखी गईं। खाने की क्रिया चलती हो तब आसपास क्या हो रहा है यह जानने द्वारपाल-से दो कान बगल में रखे। प्राणी की उत्क्रान्ति के क्रम में खाने का व्यापार ही मुख्य माना गया लगता है। (पृ.111, स्वैरविहार)

यह खाने का व्यापार जीवन के सभी क्षेत्रों में आज किस तरह व्यापक हो गया है! राजकीय क्षेत्र में रिश्वत नई चीज़ नहीं। शाकुन्तल में मुद्रिका जिसे मिली है उस श्रमजीवी को पकड़ लानेवाले सैनिक के संदर्भ में भी रिश्वत का उल्लेख आता है। पर परीक्षा में गुण बढ़ाने के लिए या टयुशन के लिए ली जाती राशि मुख के बढ़े हुए महत्त्व का निर्देश करती है। रा. वि. पाठक द्वारा सूचित दिशा में हम आगे बढ़े हैं।

स्त्री-पुरुष की समानता में मानते इस लेखक को उस क्षेत्र ने भी कई निमित्त सुलभ करवाये हैं। यहाँ की आत्यंतिकता और असंगति पर हँसते हैं। कला और साहित्य के सुदीर्घ इतिहास में स्त्रियों पर अन्याय होता रहा है। इस फरियाद की उपेक्षा किये बिना रा. वि. पाठक लिखते हैं।

''पर कवि, चित्रकार आदि विशेषत: पुरुष होने के कारण ही स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुन्दर कहा है। इसलिए यह राय एकपक्षीय है ऐसा कोई कहता नहीं। कथन स्त्रियों के हित में होने के कारण शायद स्त्रियां उस विषय में विरोध न करें – वैसे यह कथन स्त्रियों के हित में ही है ऐसी सलाह, इस मतभेद का इतिहास जाननेवाला मैं एक वकील की हैसियत से न दूँ – पर मेरी सुनता है कौन? पुरूष भी विरोध नहीं करते! अरे यहाँ तक कि सुंदरता का दृष्टिबिन्दु स्त्री-विषयक ही हो सकता है, पुरूष-विषयक नहीं। इससे एक नुकसान स्त्रियों का है। बताऊँ। इस मान्यता से 'मुझे सुन्दर स्त्री चाहिए' यह माँग 'मेरी स्त्री सुंदर नहीं है' ऐसी फरियाद पुरुष कर सकता है। स्त्री ऐसी फरियाद ही नहीं कर सकती। यह बात स्त्रियाँ जानें। अभी तो ऐसा माना जाता है कि स्त्री ही सुन्दर है और हो सकती है। कोई पुरुष कहे कि मैं स्त्री की अपेक्षा अधिक सुन्दर हूँ तो स्त्रियाँ और पुरुष भी उस पर हँस पड़ेंगे।'' (पृ. 102, स्वैरविहार)

यहाँ बिना रुके, साहस बटोरकर रा. वि. पाठक स्त्री और पुरुष में से अधिक सुन्दर कौन इस विषय में तटस्थ चर्चा करते हैं। प्राणियों और पक्षियों की सृष्टि से दृष्टांत देते हैं: मैंने देवचिड़िया के नर-मादा देखे थे, उसमें नर ही सुंदर था, वही नाच सकता था, वही गा सकता था। पर ऐसे पक्षी देखकर आपने अपना समय बिगाडा नहीं होगा, तो मोर और मोरनी लीजिए। उनमें से मोर ही रूपवान है इसमें कोई शंका है? मुर्गा और मुर्गी – उनमें

भी? कोयल? जिसके पंचम सूर पर आप न्योछावर हो जाते हैं वह तो नरकोकिल है यह जानते हैं? वही सुन्दर है। मादा बिलकुल गाना नहीं जानती, वर्ण से भी वह रूपवती नहीं है। घर की दरारों में लंबी मूंछ वाले कंसारे नामक कीट होते हैं उनमें भी नर सारी रात गाकर आपको नहीं तो अपनी मादा को खुश करता है। मछलियों में नर मत्स्य बहुत सुन्दर होता है। किसी दिन मदमस्त नर का चित्र देखना। अब पशुओं को देखें। मृगियों की अपेक्षा कालासार बहुत अधिक सुन्दर होता है। वानरों में भी पुरुष वानर सुंदर है। नंदी गाय से और भैंसा बेचारा उसकी भैंस से, बकरा बकरी से सुंदर है। अंत में, सिंह सिंहनी की अपेक्षा सुन्दर ही नहीं, भव्य भी लगता है। हाथी हथनी से। तो इससे सिद्ध होता है कि मानवजाति में भी पुरुष ही स्त्री की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। (पृष्ठ 104)

महिलावादी आंदोलन चलानेवाले जल्दबाजी में इस कथन का विरोध करने से पहले पूरा लेख पढ़ जाएँ ऐसा अनुरोध है। क्योंकि उपसंहार से पहले रा. वि. पाठक भारत के पुरुषों की एक क्षति खोज निकाल कर उन्हें गाने-नाचने की सलाह देते हैं : 'सारे जंगली देशों तथा सभी सभ्य देशों में पुरुष नाचते हैं मात्र हिन्दुस्तान के पुरुष ही अजंगली असंस्कृत हैं।'

'स्वैरविहार' के दूसरे खंड में 'प्रेम के विषय में' लिखते रा. वि.पाठक महिलावादियों को व्यावहारिक सलाह देते हैं कि स्त्रियों का संघ भी निकालना चाहिए। 'हिन्दुस्तान में खास करके स्त्रियों के लिए ही संघ की विशेष आवश्यकता है।' इस संघ के कार्यक्षेत्र और प्रवृत्तियों के विषय में भी विस्तार से मार्गदर्शन दिया है और स्त्रियों को भरमाया नहीं जा सकता इसकी प्रतीति कराने साहित्यिक प्रमाण दिये हैं।

''मेरिडिथ के एक उपन्यास में नई ब्याहता को एक प्रौढा स्त्री पति को वश करने के लिए रसोईकला सीखने की सीख देती हैं, Kisses Fail, Cookery don't 'चुंबन व्यर्थ जाते हैं, रसोई नहीं' इसी एक वाक्य के कारण उस स्त्रीने मेरिडिथ पढ़ना बंद कर दिया था! यहाँ तो ऐसी स्त्रियाँ तुरंत कहेंगी : ठीक है, हमें रसोईघर में ही कैद रखने और भठियारे का काम करने के लिए ही संघ शुरू करने के बहाने यह नई हलचल चलाई है। क्या हमारा जीवन चूल्हे के लिए ही है? – और वह भी मात्र आपके एक..... यह वाक्य स्त्रियाँ किस शब्द से समाप्त करेंगी इसका अनुमान मैं कर नहीं सकता! मुझ में कल्पनाशक्ति होने पर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि स्त्रियों की स्वाभाविक कल्पनाशक्ति यह बात किन शब्दों में व्यक्त करें यह जानने योग्य इसकी क्षमता नहीं!' (पृ. 127, स्वैरविहार भाग–2)

रा. वि. पाठक के नर्म-मर्म में साहित्यकृति का स्वाध्याय और लोकमानस का निरीक्षण कैसी सहोपस्थिति पाते हैं! 'शास्त्रान्ध' हुए बिना शास्त्रों का सेवन करने के लिए उन्होंने कहा था। ब्राह्मणों और अंग्रेजों की ठीक से तुलना करने के बाद धार्मिक और राजकीय शोषण से बचने की निर्भयता जगाने अपनी हास्यशक्ति प्रयुक्त की थी। 'शाकुन्तल का गूढार्थ' समझाते हुए वे शाप देनेवाले दुर्वासा की ब्राह्मण जाति के तथा साहित्यकला

की दलबंदी के कटु आलोचक के रुप में पहचान देते हैं। शिवमंदिर में बड़ा घंट देखकर उसके स्थान पर छोटा घंट रखनेवाला कायस्थ यह हेराफेरी चालू रखता है और अंत में छोटी सी घंटी तक पहुँच जाता है। इसके साथ रा. वि. पाठक ब्रिटिश सरकार द्वारा हिंद को दिये वचनों में होती किफ़ायत की तुलना करते हैं। इसके बाद एक 'रासो' लिखकर मान्चेस्टर के मुखिया और लिवरपुल के जुलाहे का इसमें समावेश कर लेते हैं। मुंबई के विषय में वे बार बार लिखते हैं। कहीं केवल वास्तविक निर्देश हैं और उन्हीं में से कटाक्ष जगता है। 'नंगे दिखाई देने की जिन्हें बहुत शर्म हो उन्हें एक बार जेल हो आना चाहिए। जेल में जब भयानक रस न हो तब बीभत्स रस ही होता है।' इतिहास की विकृत प्रस्तुति करते अंग्रेजों के हित में लाठी मीमांसा लिखकर ठोस सुझाव देते हैं। नई वस्तु खोजने के बजाय पहले से चली आ रही वस्तु का नया उपयोग कर लेने में अधिक बुद्धिमानी है। लवा की बुद्धि की परीक्षा करने अकबर ने गली के बीच हाथी टेढ़ा खड़ा करवाया था तब लवा के पास में पड़ा कुत्ते का पिल्ला, हाथी पर फेंक कर हाथी को भड़का कर भगाया था। कुत्ते का पिल्ला कोई नई बात नहीं थी परन्तु इसका उपयोग नया था।

रा. वि. पाठक का हास्य जहाँ निर्हेतुक लगता है वहाँ भी सांस्कृतिक संदर्भ में साभिप्राय होता है। 'सांख्यशास्त्र' नामक लंबे लेख में वे गीता का जेल से संबंध स्पष्ट करते हैं : ' ..... और योग का अर्थ कर्मयोग और कर्मयोग का अर्थ सदा काँग्रेस का कार्यक्रम, ऐसा सभी मानते हैं। देखिए तिलक महाराज ने 'गीतारहस्य' सरकार के कैदी की हैसियत से लिखा है। गीता के विषय में प्रवचन करनेवाले अरविंद घोष सरकार की हुकूमत से तैर कर फ्रेंच सीमा में रहते हैं और महात्माजी ने 'अनासक्ति योग' जेल में सरकार के अपराधी के रूप में लिखा। गीता की उत्पत्ति ही जेल में है। कृष्ण स्वयं जेल में ही पैदा हुए थे, कदाचित इसी कारण उसकी गीता भी जेल में लिखी जाती होगी।' (पृ. 32, स्वैरविहार–२)

रा. वि. पाठक का हास्य गांधीयुग के दो किनारों के बीच बहा है पर कहीं कहीं वह सीमा का उल्लंघन करने की निखालिसता व्यक्त करते हैं। 'गरीबी की प्रशंसा से सारा साहित्य सभर है परंतु अभी संत फ्रांसिस या गांधीजी जैसे एक दो मनुष्यों को छोड़कर कोई स्वेच्छा से गरीब हुआ नहीं, वरना गरीब होना तो बीमार होने से भी आसान है।' (पृ. 105, स्वैरविहार–२)

रा. वि. पाठक का हास्य सभी को आनंद देने के साथ साथ नई पीढ़ी के हास्यकारों को प्रशिक्षण देने की क्षमता रखता है।

(२) चिंतनात्मक निबन्ध

वैसे तो हास्यनिबंधों में भी रा. वि. पाठक की जीवनदृष्टि व्यक्त हुई है और उनके चिन्तन की गहराई स्फटिक की तरह उभर आई है। फिर भी निबन्धकार रा. वि. पाठक की चिंतनात्मक पूंजी उनके 'मनोविहार' और 'नभोविहार' जैसे संचयों में पूर्ण रूप से फलित हुई है।

गांधीयुग ने गुजराती साहित्य को नव जागरण की उपलब्धियों से समृद्ध किया। किशोरलाल मशरूवाला और पंडित सुखलालजी जैसे प्रबुद्ध और मौलिक निबन्धकारों की पंक्ति में रा. वि. पाठक का उल्लेख किया जाता है। भारतीय जनजीवन के उन सभी पहलुओं पर रा. वि. पाठक ने दृष्टिपात किया जो नवजीवन के लिए उत्सुक हो चुके थे। नारीजीवन और श्रमजीवी दलित जातियों के प्रति असीम सहानुभूति रा. वि. पाठक के निबन्धों में झलकती है। 'संपूर्ण गांधी वाङमय' के संपादक ची. ना. पटेल ने रा. वि. पाठक की नारीभावना को रेखांकित किया है। उच्च वर्ग की नारियाँ दलित वर्ग की नारियों के साथ गुजरात के नवरात्रि उत्सव में क्यों नहीं गा पातीं? यह प्रश्न रा. वि. पाठक ने तीसरे-चौथे दशक में उठाया था और समानता के लिए पहल करने का सुझाव दिया था।

कभी कभी गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों और आंदोलनों में भावात्मक ऐक्य का अनुभव करने के बावजूद उन्होंने मौलिक सुझाव दिये हैं। अस्पृश्यों के लिए मंदिर-प्रवेश का गांधीजी का आग्रह सुविदित है। इस संदर्भ में रा. वि. पाठक मूर्तिपूजा के औचित्य पर प्रश्न करते हैं। "अब बीसवीं शताब्दी में मूर्तिपूजा के बिना धर्म भावना की पुष्टि नहीं हो पाएगी ऐसा हमें लगता नहीं।" इस विचार से सहमत होते हुए भी गांधीजी कहते हैं कि अस्पृश्य लोग मंदिर-प्रवेश का मौका माँगें या न माँगें, सवर्णों का यह दायित्व है कि वे अपने भीतर से अस्पृश्यता की भावना निर्मूल करने के लिए अस्पृश्यों के मंदिर-प्रवेश के हक का स्वीकार करें।

प्राप्त बुद्धि का दुरुपयोग करके पुरुष समाज ने स्त्री के अखंड जीवन को अपने स्वार्थ के हेतु विभाजित किया है – रा. वि. पाठक का यह निरीक्षण भी उनकी सम्यक दृष्टि का परिचय देता है। स्त्री पत्नी होने के लिए ही निर्मित हो, उसका कर्तव्य संतति को जन्म देना है अत: वह कुमारिका नहीं रह सकती – इस एकांगी दृष्टि का समर्थन 'मनुस्मृति' ने किया था : 'प्रजनार्थम् स्त्रिय स्रष्टा'। रा. वि. पाठक कहते हैं कि इस सीमित हेतु को लक्ष्य में रखकर हिन्दू समाज ने स्त्री का प्रजनन काल बढ़ाने के लिए बाल विवाह जैसी प्रथाएँ शुरू कीं, जो स्त्री के लिए विघातक सिद्ध हुईं। जिस विवाह में 'कन्यादान' का विधि न हुआ हो उसे भी मान्य करने का उन्होंने सुझाव दिया था। स्त्री-समानता के साथ आदिम जातियों के उत्कर्ष के विषय में भी रा. वि. पाठक ने अपनी निस्बत जताई है। नर्मदा आदि के नैसर्गिक सौंदर्य के वर्णन में भी वे अनूठे हैं।

जिन्हें अमूर्त और अति सूक्ष्म विषय कहते हैं उनमें रा. वि. पाठक का योगदान अनन्य है। प्रेम, सत्य, धर्म, मृत्यु जैसे विषयों पर उनके निबंध चिरस्मरणीय हुए हैं। अनुगामी पीढी के संपादकों ने रा. वि. पाठक के जिन निबन्धों का चयन किया, उन में एक है 'प्रेम'। मूलत: यह एक व्याख्यान है जिसे निबन्ध का रूप प्राप्त हुआ है।

केवल दाम्पत्यप्रेम नहीं परन्तु प्रेम की संवेदना का तत्त्वदृष्टि से क्या अर्थ है – इसका आलेखन प्रस्तुत निबंध में हुआ है।

विज्ञान के अधिकांश नियम जड पदार्थ विषयक होते हैं परन्तु जड से आगे बढ़कर चेतन पर विचार करने से जडविषयक कई नियम गलत सिद्ध हुए हैं। दृष्टांत के रूप में जलते अंगारे से लोहा तप्त होता है – यह एक कार्य-कारण नियम है। लोहा जड बना रहता है फिर भी क्रिया का आधान करता है। अथवा कहें कि अंगारा और लोहा दोनों निष्क्रिय रहकर उष्मा संक्रमण में निमित्त बनते हैं। उष्मा संक्रमण के जड नियमों की अपेक्षा शरीर भिन्न रूप से अपनी नियत उष्मा का निर्वाह करता है। अत: जड चेतन का भेद समझना आवश्यक है।

संवेदना के प्रदेश में चेतन जड के कारणकार्य के नियमों की अपेक्षा एकाधिक क्षेत्र में स्वतंत्र है। संवेदना मन में उत्पन्न होती है और मन प्रस्वेद उत्पन्न करते शरीर की अपेक्षा अधिक चेतन है।

'घर में आग लगने पर एक मनुष्य भय का अनुभव करता है, दूसरा मात्र कौतुक से आग देखता है, तीसरा निर्भयता से आग में कूद कर फँसे लोगों को बचाता है। एक मनुष्य आग में जली संपत्ति को याद करते हुए रोता है। तो कोई अन्य मनुष्य बड़ा भारी नुकसान सहकर भी मन का स्वास्थ्य गँवाता नहीं। इस प्रकार एक ही प्रसंग या वस्तु विभिन्न मनुष्यों में विभिन्न संवेदनाएँ जगाती है। अर्थात् संवेदना चैतन्य का स्फुरण है और उसे किसी प्रसंग की अपेक्षा है। वह प्रसंग संवेदना का निमित्त है।

– इस भूमिका के साथ रा. वि. पाठक प्रेम नामक संवेदना के निमित्त समझाने का प्रयत्न करते हैं।

प्रेम विशिष्ट रूप से मनुष्य अथवा मनुष्य जैसे जीवन्त संवेदनायुक्त अस्तित्व के प्रति संभव है। 'वस्तु के प्रति प्रेम' एक लाक्षणिक प्रयोग कहा जाएगा। निबंध के कुछ अंश शब्दश: देखें :

"नैयायिक सुख और दु:ख की परिभाषा इस प्रकार देते हैं : 'अनुकूल वेदनीय सुखम्' । प्रतिकूल वेदनीय दु:खम्' वेदना अर्थात् वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव, उपलब्धि (perception) । जिस वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव हमें अनुकूल हो उसका अनुभव सुखदायी होगा। जिसका अनुभव प्रतिकूल हो वह दु:खदायी लगेगा। इससे मिलती-जुलती प्रेम की परिभाषा मैं ऐसी दूँगा कि 'जो जीव हमें अनुकूल प्रतीत हो उसके प्रति जगती संवेदना ही प्रेम, जो जीव प्रतिकूल दिखाई दे उसके प्रति जगती संवेदना ही द्वेष। नैयायिक ने अनुकूल–प्रतिकूल जैसे शब्दों द्वारा सुख दु:ख की जो परिभाषा दी है वह संपूर्ण है या नहीं यह मुख्य मुद्दा नहीं, परन्तु मेरी दृष्टि से अनुकूल-प्रतिकूल शब्द अभी अधिक स्पष्टता माँगते हैं, इसमें संदेह नहीं। उस स्पष्टता के बिना प्रेम का स्वरूप ही अभी अनिरूपित रहता है।'

'..... मात्र बाह्य रूपरंग देखने से मनुष्य का परिचय हुआ ऐसा हम नहीं मानते। उस मनुष्य के समग्र चेतनतंत्र का परिचय हो तब हम मानते हैं कि उसका सही परिचय प्राप्त हुआ। ..... अब एक चेतनतंत्र को दूसरा चेतनतंत्र कब अनुकूल लगता है यह देखना

होगा। ..... आंतर प्रयोजन सिद्ध करने प्रवृत्त रहना चेतन का स्वभाव है। .... जीवन का अंतिम प्रयोजन व्यक्ति के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकता है, प्रत्येक प्रयोजन को हम समझ नहीं पाते। .... रस शास्त्र में हम कहते हैं कि कवि की कविता का हार्द उसके काव्य में ही स्फुट होता रहता है, काव्य रचने से पहले वह स्फुट होता नहीं, वैसे ही जीवन का साध्य उसकी साधना में ही स्फुट होता रहता है ..... हम जड व्यापार छोड़कर ज्यों ज्यों सूक्ष्म चेतना व्यापार के प्रति जाएँगे त्यों त्यों साध्य-साधन का यह भेद लुप्त होता जाएगा, इसे भी मैं चेतन का लक्षण मानता हूँ। .....'

कुछ प्रयोजन ही ऐसे होते हैं कि उनकी साधना में अन्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है। दो तरह से : (1) स्वतंत्र सहकारी व्यक्ति के रूप में अथवा (2) केवल उस साधना के साधन के रूप में। व्यापार में ग्राहक मात्र साधन है, खेल में प्रतिस्पर्धी स्वतंत्र, हम जैसे व्यक्ति के रूप में होता है।

अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए जो व्यक्ति दूसरे को केवल साधन मानता है वह स्वार्थी व्यक्ति प्रेम नहीं करता। परन्तु स्वार्थी मनुष्य भी केवल स्वार्थी नहीं होता। 'तत्त्वदृष्टि से मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति में उत्तमोत्तम प्रयोजन निहित है। यदि वह नहीं दिखाई देता तो उसका कारण है : अन्य बाधक प्रयोजनों के कारण वह प्रवर्तक हेतु बन नहीं पाया। चाहे कितना ही बड़ा स्वार्थी हो वह अपने दृष्टिबिन्दु से हटकर, विशालतर दृष्टिबिन्दु से अन्य व्यक्ति को कहीं न कहीं अवश्य मिलता है और उसके साथ थोड़ा सा भी प्रेम बाँधने को भाग्यशाली बनता है। परन्तु जीवन के एक दिशासूचक सिद्धान्त के रूप में हमें याद रखना चाहिए कि स्वार्थी मनुष्य दूसरों से प्रेम नहीं कर सकता।

डाकू–लुटेरों के प्रति प्रेम जगता है क्यों कि उन के साहस में बाद में कोई उच्च प्रयोजन, समूह भाव सम्मिलित होता है। निबंध के अंत भाग में फिर से दाम्पत्य प्रेम का जिक्र है :

'युवा स्त्री–पुरुषों में काम का प्रयोजन प्रवर्तित होता है – जिस का स्वीकार करने में संकोच धारण करने की जरूरत नहीं। ..... कामाकर्षण जीवन में दीर्घ काल तक टिकता है, अत: उसकी अनन्यता सामान्यत: स्वीकृत हुई है। परन्तु जगत में कीर्ति पाना, महान होना, देशोन्नति करना, ईश्वर से प्रेम करना, समाज का कल्याण करना, आदि वृत्तियाँ भी उतनी ही प्रबल हो सकती हैं और उनमें भी वैसा ही अनन्यता का अनुभव होता है। दाम्पत्य प्रेम सघन – गहन हो पाता है क्योंकि जीवन के कुछ भागों में तो वही जीवनरहस्य प्रतीत होता है। दूसरा भी कारण है : आवश्यक रसऐक्य में से अन्य कई उच्चतर प्रयोजन भी जगते हैं और उनमें से अन्य के श्रेय की कामना के उच्चतम प्रयोजन भी स्फुट हो सकते हैं। ..... प्रेम केवल सुख भोगने के लिए है इस मान्यता का मैं निषेध करना चाहता हूँ, अत: जीवन में विशाल प्रयोजन की आवश्यकता के प्रति मैंने ध्यान आकर्षित किया है। प्रेम में अन्य व्यक्तियों को स्वतंत्र स्थान है यह भी मैं आपसे कहना चाहता हूँ। प्रेम में से उत्कट आनंद प्राप्त होता है यह सही है, परन्तु वह उसमें से निष्पन्न होता परिणाम है,

प्रेम की उत्पत्ति उसमें से या उसके खातिर नहीं है। प्रेम में से मिलता आनंद चैतन्य की विजय का आनंद है, विशाल प्रयोजन की साधना या सिद्धि का आनंद है। बिना प्रयोजन के जीवन खाली है, खोखला है, उसमें प्रेम के लिए स्थान नहीं – यह मेरा मुख्य वक्तव्य है। और खास करके यह कि स्वार्थवृत्ति प्रेम की जन्मशत्रु है। विशाल प्रयोजन से जीव या आत्मा का स्वत्व कम नहीं होता परन्तु विशाल होता है और अनुभव अधिक रसघन और रससमृद्ध होता है। केवल महान हो जाने की इच्छा से महान होना संभव नहीं, परंतु विशाल प्रयोजनों से महान होना संभव है।'' (मनोविहार)

निबन्धकार रा. वि. पाठक के कथ्य की विशदता और विरोधों एवं व्याप्तिदोषों से बचती तार्किकता के मूल में उनका गहरा अध्ययन है। तर्कशास्त्र – प्रमाणशास्त्र, तत्त्वज्ञान और काव्यशास्त्र के स्वतंत्र तथा समन्वित स्वाध्याय के परिणामस्वरूप उनके चिन्तनात्मक गद्य की अभिव्यक्ति सुगम एवं सरस बन पाई है।

पश्चिम के तर्कशास्त्रविषयक कई ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन किया और गुजराती छात्रों के लिए 'प्रमाणशास्त्र प्रवेशिका' (सन् 1922) की रचना की। रा. वि. पाठक को एक समर्थ निबन्धकार सिद्ध करने में इस प्रथम ग्रंथ का योगदान है।

शिलर के 'फॉर्मल लॉजिक', विल्हेल्म के 'ध प्रिन्सिपल्स ऑफ लॉजिक', बोजां केवर के 'ऐसेन्श्यल्स ऑफ लॉजिक' जोनसन के 'लॉजिक', फाउलर के 'इण्डक्टिव लॉजिक' वेन के 'एम्पिरिकल लॉजिक' वेस्टवे के 'सायण्टिफिक मैथड', क्लीटन के 'एलिमेण्ट्स ऑफ लॉजिक', मिण्टो के 'लॉजिक' आदि पाश्चात्य ग्रंथों का अध्ययन करने के साथ साथ 'तर्कभाषा, 'तर्कसंग्रह', 'न्यायसूत्र', 'प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार' आदि भारतीय ग्रंथों के अध्ययन का भी रा. वि. पाठक ने अपने प्रस्तुत ग्रंथ में विनियोग किया है। सब कुछ आत्मसात करने के बाद लेखन का आरंभ करने के कारण 'प्रमाणशास्त्र प्रवेशिका' को मौलिक ग्रंथ का गौरव प्राप्त हुआ। पारिभाषिक शब्दावली की समस्या भी यहाँ अनायास हल हो गई है।

5

समीक्षा

गांधीयुग के गुजराती साहित्यकारों को कला के मानदंड़ों के प्रति सतर्क रखने में रा. वि. पाठक का सर्वाधिक योगदान है। ब. क. ठाकोर (ता. 23-10-1869 से ता. 2-1-1952) सतही भावुकता के विरोधी थे। विचार की गहराई और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का आग्रह रखते हुए नवोन्मेषशाली प्रतिभा का रहस्य ब. क. ठाकोर ने नवलेखकों को समझाया था। इस सर्जक-समीक्षक की कुछ संकुल एवं उलझी हुई स्थापनाओं को विशद तथा चारु रूप में रा. वि. पाठक ने प्रस्तुत किया। संस्कृत काव्यशास्त्र में आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' को 'लोचन' टीका द्वारा अभिनवगुप्त ने प्रेषणीय एवं हृद्य बनाया – उस घटना का यहाँ स्मरण होता है। अभिनवगुप्त के साथ रा. वि. पाठक की प्रतिभा का सादृश्य देखने में अतिशयोक्ति नहीं है। जिस प्रकार अभिनवगुप्त के शिष्य प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रभावित थे उसी प्रकार रा. वि. पाठक के शिष्य उनकी समीक्षा से प्रभावित थे।

इनकी निम्नलिखित पुस्तकें समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं ;

अर्वाचीन गुजराती काव्यसाहित्य (1933)
अर्वाचीन काव्यसाहित्य के प्रवाह (1938)
काव्य की शक्ति (1939)
साहित्यविमर्श (1939)
आलोचना (1944)
नर्मदाशंकर कवि (1936) का समावेश करके संवर्धित संस्करण) नर्मद :
अर्वाचीन गद्यपद्य का आद्य प्रणेता (1945)
साहित्यालोक (1954)
नभोविहार (1961)
आकलन (1964)
शरद समीक्षा (1980)

अंतिम तीन प्रकाशन मरणोत्तर हैं, जिनका संपादन हीरा रा. पाठक ने किया है।

ऐतिहासिक, कृतिनिष्ठ एवं सैद्धान्तिक – समीक्षा के तीनों क्षेत्रों में रा. वि. पाठक का योगदान अनन्य है। ऐतिहासिक के अंतर्गत प्रवाह दर्शन तथा सर्जकविशेष का मूल्यांकन

समाविष्ट हैं। नर्मद और न्हानालाल विषयक समीक्षाएँ सहृदय के तटस्थ प्रतिभाव की द्योतक हैं।

क्रान्तदर्शिता का लक्षण दलपतराय की अपेक्षा नर्मद में विशेष है, यह कहकर रा. वि. पाठक ने महाकवि न्हानालाल की उक्ति का पुनर्मूल्यांकन किया। दलपतराम को 'ब्रह्मर्षि' और नर्मद को 'राजर्षि' बनाकर न्हानालाल ने पिता का सविशेष गौरव किया था। न्हानालाल की समीक्षा से रा. वि. पाठक सहमत भले न हों, न्हानालाल की सर्जक प्रतिभा के विषय में उन्होंने संतुलित विवेचना की। प्रेम और भक्ति के कवि, भारतीय एवं वैश्विक चिन्तन के मानवीय अंशों का समन्वय करते कवि, लय वैविध्य के धनी गीतकार के रूप में न्हानालाल के योगदान का रा. वि. पाठक ने स्वीकार किया। साथ साथ छंद एवं रचनारीति विषयक शिथिलता को भी रेखांकित किया। न्हानालाल द्वारा प्रयुक्त 'अपद्यागद्य – डोलनशैली' के विषय में वैसे भी विवाद चलता रहा। रा. वि. पाठक ने 'अपद्यागद्य' को गद्य का ही प्रकार बताया।

पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्यकारों तथा रचनाओं के विषय में रा. वि. पाठक की समीक्षाएँ विश्वसनीय मानी गईं। रचना के आंतरसत्त्व को पहचानने की सूक्ष्म दृष्टि 'वसंत विजय' के अर्थघटन में भी लक्षित होती है। इस पौराणिक कथाकाव्य – खण्डकाव्य के नायक पाण्डु की नियति के प्रति जो सूक्ष्म विद्रोह का भाव है इसे रा. वि. पाठक ने बखूबी पकड़ा है। यह भाव करुण होते हुए भी करुण से भिन्न है, वीर और अद्‌भुत के संयोजन से भव्यता भी जगती है। इस प्रकार की संवेदना का सम्बन्ध पश्चिम के 'ट्रेजिक' रस के साथ आंशिक रूप से ही है, पूर्ण रूप से नहीं। कृतिनिष्ठ समीक्षा करते समय रा. वि. पाठक को अपना व्यापक अध्ययन सहायक होता है, रसकीय दृष्टि सतत बनी रही है।

जीवनमूल्यों की उपेक्षा किये बिना कला का स्वकीय महत्त्व रा. वि. पाठक ने समझाया।

'हमारे सामने प्रस्तुत रचना कलाकृति है या नहीं यही एक प्रश्न समीक्षा का है।' (साहित्यविमर्श)

कलाकृति के मानदंड सीमित नहीं हैं। इनका सम्बन्ध समीक्षक की सुरुचि से भी है। सुरुचि जीवन की गहराई से जगती है। 'दर्शनशास्त्र की तरह समीक्षा का ज्ञानप्रदेश भी वैविध्यपूर्ण एवं व्यापक होना चाहिए।' (साहित्यालोक)

समीक्षा की अपेक्षा रचना को रा. वि. पाठक अधिक महत्त्व देते हैं। समीक्षा के लिए रचना आराध्य है। फिर भी यह भूलना नहीं चाहिए कि प्रशिष्ट रचना को प्रत्येक युग में प्रासंगिक सिद्ध करने का श्रेय समीक्षा को है। साहित्य को शुद्ध रखने का दायित्व भी समीक्षा का है। समीक्षक का दायित्व लेखक तथा प्रजा दोनों के प्रति है।

'जजमेण्ट' – फैसला दे देना उचित नहीं, रसकीय दृष्टि से कलाकृति की विशेषताएँ बतानी चाहिए। – समीक्षक का यह दायित्व रा. वि. पाठक ने सतत निभाया है। मध्यकालीन गुजराती साहित्य तथा अर्वाचीन गुजराती साहित्य – दोनों को वे न्याय दे पाए

हैं। नरसिंह मेहता, मीराँबाई, अखो जैसे महान मध्यकालीन कवियों के विषय में लिखते समय रा. वि. पाठक जिस संतुलन का निर्वाह कर पाते हैं, ठीक वही संतुलन अर्वाचीन साहित्यकारों के विषय में निभाते हैं। साथ साथ समकालीन साहित्य की गतिविधि को सजग दृष्टि से देखते रहते हैं। उनके सहृदय प्रतिभाव पाकर समकालीन साहित्यकार उपकृत होते रहे। रा. वि. पाठक के निधन के पांच वर्ष के बाद उमाशंकर जोशी ने 'पाठक साहब' नामक सॉनेट लिखा था 1960 में। 'अनंत जगत को स्पर्श करते रहते आरोह–अवरोह में आपका सूक्ष्मदर्शी एवं शुचि चित्तसाज सदा स्मरणीय रहेगा' – यह कहते हुए उमाशंकर जोशी रा. वि. पाठक में सूक्ष्म संवेदना एवं समुचित तार्किकता का संयोग देखते हैं। एकांत प्रियता के साथ विनोदवृत्ति और चिन्तनप्रियता के साथ जीवन का उल्लास देखते हैं। जीवन में आनंद के जो क्षण सुलभ हुए उनमें रा. वि. पाठक के स्नेह–सान्निध्य का श्रेय कम नहीं। कविता का उत्तरार्ध इस प्रकार है :

अनंत जग स्पर्शता ज अवरोह – आरोह मां,
अहो विरल चित्तसाज अति सूक्ष्मदर्शी शुचि!
गिरा द्युतिमती यथातथ सुरेख संवेदने
प्रमाणप्रिय, तोय ऊर्मि जरी आंख दे भींजवी;
गुफाप्रिय, छतां विनोदपटु सर्वभेळा भळ्या;
विचार–रत, तोय नेत्र महीं जीवनोल्लास शो!
मनुष्य–अवतार मां यदि क्षणो मुदानी मळी,
निशंक मळी तो कंईक तम स्नेह–सान्निध्यमां!

जैसे सोनेट आदि काव्यप्रकार अंग्रेजी के माध्यम से गुजराती में आए, वैसे ही पाश्चात्य समीक्षा के कई तत्त्वों से गुजराती समीक्षा लाभान्वित हुई। यह प्रक्रिया रा. वि. पाठक के पूर्ववर्ती समीक्षक रमणभाई नीलकंठ आदि में शुरू हो चुकी थी। नर्मद के समकालीन नवलराम का नाम भी आदर के साथ लिया जा सकता है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि रा. वि. पाठक की समीक्षा में पाश्चात्य समीक्षा के इष्ट तत्त्वों का मणिकांचन योग सिद्ध हुआ। सामाजिक संदर्भ के साथ कला की स्वायत्तता रेखांकित हुई। 'भाव', 'वृत्ति', 'रहस्य' आदि की चर्चा में रा. वि. पाठक पाश्चात्य जीवनलक्षी अभिगम तथा भारतीय रसकीय दृष्टि का संयोग सिद्ध कर पाते हैं। नैतिक एवं रसकीय चेतना के बीच संवाद की भूमिका रचने में कोई अवरोध नहीं है। इस संदर्भ में स्वातंत्र्योत्तर गुजराती समीक्षक प्रमोदकुमार पटेल लिखते हैं :

"गांधीयुग के आरंभिक वर्षों में ही पाश्चात्य समीक्षा का 'कला के लिए कला' का एक जीवंत एवं रसप्रद विवाद हमारे यहाँ आ पहुँचा। गांधीजी और उनके अनुयायी चिन्तक तो साहित्य जीवन के लिए ही होना चाहिए यह बात असाधारण प्रतीति के साथ प्रस्तुत करते थे। .....

रामनारायण पाठक की साहित्य विचारणा में अलबत्ता भिन्न भिन्न अनेक मुद्दों की चर्चा के निमित्त इस विषय की जाँच–पडताल होती रही है। पर उन सब में विख्यात अंग्रेजी विद्वान के सुपरिचित लेख 'Poetry For poetry's Sake' की उन्होंने समीक्षा क्षेत्र में चर्चा की, उससे उनकी केन्द्रवर्ती दृष्टि व्यक्त होती है। ब्रेडली ने अपना मुख्य दृष्टिबिन्दु स्पष्ट करते हुए कविता का विश्व एक भिन्न और स्वतंत्र विश्व है और काव्यसर्जन का मुख्य प्रयोजन शुद्ध रसानुभव करवाना है, यह मुद्दा रेखांकित किया है। और इस के बाद कविता के विश्व को उसके बाहर छूट जाते व्यवहार–जगत के साथ कोई भीतरी स्तर का सम्बन्ध होना माना है। रामनारायण पाठक ब्रेडली की इस विचारणा को परिमार्जित करते हुए कहते हैं कि जीवन और साहित्य के बीच मात्र एकपार्श्वी आंतरिक सम्बन्ध नहीं है, वह तो कृति के ऊपर–नीचे, आसपास, दसों दिशाओं का सर्वतोभद्र सम्बन्ध है।

उनके अनुसार साहित्य के घटनाक्रम में जुड़ी चारों इकाइयाँ – कर्ता, कृति की वस्तु, भाषा और भावक – सभी कृति के बाहर विस्तीर्ण जीवन प्रवाह में ओतप्रोत हैं। इतिहास, समाज, संस्कृति और परंपराओं के बीच इन सब का अस्तित्व है, बल्कि वे सब इतिहास आदि के साथ सतत क्रिया प्रतिक्रिया चलाते हैं। जाहिर है कि ये संबंध द्वन्द्वात्मक, गतिशील और विकासशील हैं। साहित्य के सर्जन में इन सभी सम्बन्धों की बदलती तराहें भी देखी जा सकती हैं।'' (पृ. 339, रामनारायण वि. पाठक, परिशीलन ग्रंथ)

रा. वि. पाठक की समीक्षा में पूरी वैश्विक विरासत अनायास झलकती है। सारे विवाद एक ओर हट जाते हैं और एक सर्वग्राही दृष्टि सुलभ होती है :

'दर्शनशास्त्र और काव्य दोनों एक ही मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। समस्त आत्मचैतन्य का उत्कर्ष अनुभव करवाना यह काव्य का कार्य है, काव्य की शक्ति है... काव्य और नीति दोनों आत्मा के एक ही रहस्यबिन्दु से प्रकट होते हैं।' (पृ. 376 , परिशीलन ग्रंथ, हीरा रा. पाठक के लेख से उद्धृत)

डॉ. चन्द्रकान्त शेठ ने रा. वि. पाठक विषयक अपनी पुस्तक का 'समीक्षक रा. वि. पाठक' प्रकरण से आरंभ किया है और सर्वाधिक पृष्ठ दिए हैं। रा. वि. पाठक की तत्त्वलक्षिता और सौन्दर्यलक्षिता, वस्तुलक्षिता और रीतिलक्षिता, आंतरदर्शन और बहिर्दर्शन किस प्रकार समन्वित होकर उनकी समीक्षा दृष्टि को अनन्य सिद्ध करती हैं यह सोदाहरण समझाया है। उन्होंने कवि सुन्दरम् के शब्दों में अपना समादर सूचित किया है :

''पंडितयुग की अध्ययन निष्ठा, गांधीयुग की संयमितता और उनकी स्वकीय विशद और अनाच्छादित बुद्धिशक्ति का सुभग संयोग उन के लेखों में दिखाई देता है।'' (साहित्य चिंतन)

सुरेश ह. जोशी ने कलाकृति की स्वायतत्ता के विषय में अभिनिवेष के साथ लिखा। उनके शिष्य शिरीष पंचाल ने अपने शोधकार्य के फलस्वरूप देखा कि इस अभिगम का स्रो रा. वि. पाठक की समीक्षा है।

गुजराती समीक्षा के इतिहास में रा. वि. पाठक का योगदान अपूर्व है, अनन्य कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं।

रा. वि. पाठक की समीक्षादृष्टि का परिचय देते कुछ उदाहरण देखें :

कलानुभव का स्वरूप और कलाकार की भूमिका

"यह कलाकार का अनुभव एक दृष्टि से देखने पर कलाकार के व्यक्तित्व पर अत्यंत आधार रखनेवाला, उसके व्यक्तित्व के भागरूप, अत्यंत विशिष्ट प्रकार का होता है..... वह अनुभव अपने या समाज के किसी भी व्यावहारिक प्रयोजन से अबाधित होता है, अत: वह अधिक शुद्ध स्वरूप का होता है, फलत: जीवनयोजना में उसका महत्त्व, उसका रहस्य सविशेष रूप से उसके अनुभव में निहित होता है।" (अर्वाचीन काव्यसाहित्य के प्रवाह, पृ. 3-4)

"कवि स्वयं जितने प्रमाण में उस संवेदना में बहता है उतने प्रमाण में वह संवेदना का सर्जक न रहकर केवल जड कार्याधान करनेवाला बनता है..... संवेदना की अनुभूति का समय ही सर्जन का समय नहीं होता..... मूल संवेदना की अनुभूति का क्षण और सर्जन का क्षण ये कवि के मानस–इतिहास में भिन्न भिन्न क्षण होते हैं।" (अर्वाचीन काव्यसाहित्य के प्रवाह पृ. 101-102)

व्यवहार के अनुभव में और काव्य के अनुभव में कोई अंतर ही नहीं?..... दो अनुभवों में प्रमुख अंतर यह है कि काव्य में वृत्ति, संवेदना या भाव अधिक शुद्ध प्रकार का होता है। इसका एक कारण यह है कि व्यवहार में परिस्थिति कई बार शुद्ध रूप में दिखाई नहीं देती। जैसे कि कोई मनुष्य आकर अपनी करुण दशा का वर्णन करे तो हमें पहले तो शंका होगी 'शायद झूठ बोलता होगा तो?' अत: उसके प्रति अंत:करण ठीक से द्रवित नहीं हो पाएगा। काव्य में स्वकल्पित सृष्टि होने के कारण प्रमाता स्वयं शुद्ध रूप से जानता है कि यह करुण वर्णन सही हैं, अथवा नहीं है। और इसीलिए परिस्थिति के लिए यथोचित वृत्ति चित्त में जगती है। इसके अतिरिक्त व्यवहार में शुद्ध रूप से वृत्ति जगे इसके लिए हम सज्ज नहीं होते। स्टेशन पहुँचने की जल्दी हो या किसी दूसरी बात में मन व्याकुल हो तो समस्त चित्त उसी परिस्थिति के सम्मुख होकर वृत्ति या संवेदना व्यक्त नहीं कर पाता। कला में समस्त चित्त उद्दीष्ट परिस्थिति के सम्मुख होकर आता है। या तीसरे, व्यवहार में प्रमाता के अपने ग्रहीत शुद्ध वृत्तिस्फुरणा में व्यवधान बनते हैं। किसी व्यक्ति ने एक पाई भी खर्च न करने का निश्चय किया हो तो वह निश्चय, गुप्त और अज्ञात रूप से भिखारी की बात सच मानने में और उसके प्रति द्रवित होने में व्यवधान बनेगी। काव्यानुभव में ऐसे विघ्न नहीं आते इसलिए अभिनवगुप्तपाद कलानुभवयोग्य बुद्धि को 'अविघ्ना संवित' कहते हैं। इसे दूसरों ने 'भग्नावरणा चित्' कहा है।" (रा. वि. पाठक ग्रंथावलि – 4, पृ. 58-59)

उपर्युक्त तीनों उद्धरण चंद्रकान्त शेठ और जयंत कोठारी के समीक्षा लेखों में समाविष्ट हैं। नई पीढ़ी के गुजराती समीक्षकों के हृदय में संस्कृत काव्यमीमांसा के प्रति

आदर जगाने में रा. वि. पाठक का विशेष योगदान है। मूल सिद्धान्त को समझाने के लिए उन्होंने निरीक्षण–अध्ययन से दृष्टांत दिये हैं।

एकत्व की प्रतीति

"यही है काव्य का मूल्यांकन : समग्र जीवन की दृष्टि से उस भाव का स्थान तय करना..... भाव का मूल्यांकन अर्थात् भाव की समग्र जीवनदृष्टि से की गई चर्चा। यह चर्चा दार्शनिक है Philosophic है" (रा. वि. पाठक ग्रंथावलि – 4, पृ. 263)

"मैं तो मानता हूँ कि मनुष्य को अपने जीवन के एकत्व की प्रतीति है। इसीलिए तो मनुष्य जगत में एकत्व की अपेक्षा रखता है और इसीलिए मैं यह अशक्य समझता हूँ कि समग्र काव्य के भाव के मूल्यांकन का मानदंड जीवन के मूल्यांकन के मानदंड से स्वतंत्र हो।" (वही, पृ. 264)

व्यवहार के अनुभव और काव्य के अनुभव में भेद होते हुए भी काव्य के मूल्यांकन में जीवन और कला की अंतरतम साक्षेप स्थिति को रा. वि. पाठक ने रेखांकित किया है। 'अर्वाचीन काव्यसाहित्य के प्रवाह' में (पृ. 2) वे कहते हैं :

"काव्य में मुझे जो रसानुभव होता है वह जीवन के निरवधि अतल आनंद से ही आता है। जिस वस्तु में जितना जीवनरहस्य उतना रस। उस जीवनरहस्य को बुद्धि से पहचानना वही शास्त्रव्यापार और हृदय से उसका आस्वाद करना वही काव्यव्यापार।"

रा. वि. पाठक के ग्रंथों तथा समीक्षालेखों में 'काव्य और सत्य', 'काव्य की शक्ति' और 'मम्मट की रसमीमांसा' आदि का साद्यंत अनुवाद होने पर उनकी प्रतिभा का सही आयाम में परिचय प्राप्त होगा।

6

नाटक तथा अनुवाद

रा. वि. पाठक ने कोई लंबा नाटक नहीं लिखा। उनके तीन मौलिक नाटक हैं और सात अनुवाद या संक्षिप्त रूपान्तर हैं। 'कुलांगार' तथा अन्य कृतियों का 1959 में मरणोत्तर प्रकाशन हुआ। 'द्विरेफ की कहानियाँ भाग २' में 'कुलांगार' तथा 'देवी या राक्षसी' नामक नाट्यकृतियाँ समाविष्ट की गई थीं। लेखक ने इन्हें दृश्य शैली की कथाएँ कहा था। वास्तव में ये लम्बे एकांकी नाटक हैं।

'कुलांगार' का नायक अनंतराय सुशिक्षित नगरवासी है, ब्याह के लिए गाँव आया है : सौराष्ट्र का वातावरण है। बारात न लाकर केवल अपनी बहन ललिता के साथ अनंतराय यहाँ आया है और ब्याह के अधिकांश नियम – कर्मकांड से बचकर आगे बढ़ना चाहता है। इसी मानसिकता में अभी हाथ पर मदनफल बाँधा नहीं है। बहन ललिता इसे बाँधने का अनुरोध करती है। हास्यविनोद की मन:स्थिति में एकांकी शुरू होता है। धीरे धीरे दो गंभीर स्थितियाँ उभर आती हैं : ज्ञाति के लोगों की दकियानूसी और स्वार्थी वृत्तियाँ तथा अस्पृश्यता का प्रश्न।

आंधी – बवंडर के साथ वर्षा होती है और आशापुरी माता के मंदिर में आश्रय देकर अनंतराय अस्पृश्यों को बचा लेता है। ज्ञाति के लोग अनंतराय को कोसते हैं। अनंतराय का पुण्यप्रकोप प्रकट होता है। ज्ञातिपंच बैठता है। जो नये समाज के लिए धीरोदात्त नायक है वही दकियानूसी पंच को कुलांगार लगता है। अनंतराय और ललिता जैसे तेजस्वी युवक-युवती का गौरव करने के स्थान पर उनका निष्कासन करके संतुष्ट होनेवाली ज्ञाति की मानसिकता पर यहाँ मार्मिक व्यंग्य हुआ है और अस्पृश्यता मनाते मनुष्य को मंदिर में आश्रय देकर सहज मानवता का दर्शन कराते अनंतराय के व्यक्तित्व में नवजीवन की आशा सूचित की है।

नाटक पाँच दृश्यों में संकलित हुआ है। डिमाई कद की पृष्ठ-संख्या 33 है। इसके शब्दश: मंचन में एक घंटे से अधिक समय लगेगा। संवादों में हास्यव्यंग्य के साथ गंभीर उक्तियाँ भी झलकती हैं। पुरानी नाट्यशैली में एक समर्थ लेखक की रचना पढ़ने का अनुभव होता है। शिक्षासंस्थाओं में इसका मंचन हुआ होगा।

'देवी और राक्षसी' भी पाँच प्रवेश का एकांकी नाटक है। इसमें मनोवैज्ञानिक समस्या का निरूपण है। प्रभावती अपने पति प्रो. भोलानाथ के प्रति अत्यंत कामासक्त थी, इसी कारण वह पति को शंका से देखती है और उनके प्रति असहिष्णु बनती है। भोलानाथ का असामयिक निधन होता है। बेटी सुशीला को इसके मूल में माता का बर्ताव दिखाई देता

है और वह प्रिय मित्र सुधीन्द्र से ब्याह का विचार छोड़ देती है। इसकी इस जीवन विमुखता को बड़ी स्वस्थता से सुधीन्द्र परिवर्तित करता है। नाटक दुखान्त बनने से बच जाता है। नारी न तो देवी है, न राक्षसी, वह मानवी है। स्त्री–पुरुष–संबंध की गहरी समझदारी से ऐसी मानवीय समस्याएँ हल हो सकती हैं।

तीसरी रचना किस्से के प्रकार की लघु नाट्य कृति (स्कीट) है। 'भुलक्कड़ प्रोफेसर' भूल से किसी और के घर के दीवानखाने में पहुँच जाता है। सब विपरीत देख उसकी लम्बी उक्ति के बाद उसकी पत्नी रमा आ पहुँचती है, तभी उसे रहस्य का पता चलता है। पत्नी कहती है कि आप के कॉलेज से घर तक आपके मार्गदर्शन के लिए प्रत्येक घर की दीवार पर मुझे निशान करने पड़ेंगे। प्रोफेसर कहते हैं : 'मुझे दीवार की ओर देखने की आदत ही नहीं!' दोनों लौटते हैं; प्रोफेसर को अब आश्वासन मिलता है कि वहाँ अपने घर में सारे कागज़ व्यवस्थित होंगे। चार पृष्ठ की यह रचना निर्दोष हास्य का दृष्टांत है।

अनुवाद

'ऊरूभंग', 'कर्णभार, 'बालचरित' – ये तीन हैं भास के नाटकों के समश्लोकी अनुवाद। 'रोमियो एण्ड जुलियेट' के दूसरे अंक के दूसरे प्रवेश का अनुवाद 'बाग में मिलन 'मरचण्ट ऑफ वेनिस' के चौथे अंक के पहले प्रवेश का अनुवाद 'शेर मांस का मुकदमा' रघुवंश के दिलीप–सिंह संवाद का अनुवाद, तथा विख्यात संस्कृत प्रहसन 'भगवदज्जुकीयम्' का अनुवाद रा. वि. पाठक ने किया है। गुजरात विद्यापीठ के छात्रों के लिए ऐसे नाट्यांशों का चयन करते रहे। समश्लोकी अनुवाद भी प्रासादिक हैं और वाचिक अभिनय की प्रभावक क्षमता रखते हैं। ये दस रचनाएँ (तीन मौलिक और सात अनुवादित – रूपांतरित) रा. वि. पाठक का नाट्यस्वरूप के प्रति समादर व्यक्त करती हैं, नाटककार बनने की आकांक्षा नहीं।

×××

कविता विषयक प्रकरण में रा. वि. पाठक के काव्यानुवादों का उल्लेख किया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में रोहित की आख्यायिका के अंतर्गत अप्रमाद विषयक कुछ श्लोकों का अनुवाद 'चलते चलौ' 'चाल्या ज कर' नाम से किया है। 'पृथिवीसूक्त' का उल्लेख पहले हो चुका है। 'तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु' नाम से शुक्ल यजुर्वेदीय रूद्राष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय की 5 से 10 यजुओं का अनुवाद किया है, जो विद्वानों में लोकप्रिय हुआ है।

विदेशी कहानियों का अनुवाद 'चुंबन तथा अन्य कहानियाँ' नाम से किया, जिसके द्वितीय संस्करण का नाम 'कामा' रखा गया था। अनुवाद प्रासादिक है।

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के उल्लास 1 से 6 का अनुवाद रसिकलाल छो. परीख के सहयोग से किया, दृष्टान्तों का अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में किया है। कौसाम्बी के सहयोग से किया गया 'धम्मपद' का अनुवाद आवश्यक टिप्पणी के कारण भी मूल्यवान है। अपनी साहित्यिक सज्जता बढ़ाने के लिए रा. वि. पाठक अनुपाद कार्य में प्रवृत्त रहे, जिससे गुजराती पाठक भी उपकृत हुए।

7

बृहत् पिंगल

छंदशास्त्र रा. वि. पाठक के स्वाध्याय एवं शोधकार्य का विषय रहा है। यह कार्य गुजराती कविता तक सीमित नहीं रहा। भले ही गुजराती कवि, शिक्षक और पाठक इससे विशेष लाभान्वित हुए हों। इस विषय में रा. वि. पाठक की पुस्तकें निम्नलिखित हैं :

1. प्राचीन गुजराती छंद – एक ऐतिहासिक समालोचना (1948)
2. गुजराती पिंगल नई दृष्टि से (1952)
3. बृहत् पिंगल (1955)
4. मध्यम पिंगल (मरणोत्तर प्रकाशन, 1981) इसे डॉ. चिमनलाल त्रिवेदी और डॉ. कान्तिलाल कालाणी ने पूर्ण किया।

सन् 1933 में 'अर्वाचीन गुजराती काव्यसाहित्य' विषयक व्याख्यानों में रा. वि. पाठक ने कविता की पिंगलदेह के परिवर्तित रूप भी समझाये थे। पद्य के नये नये रूप किन कारणों से अस्तित्व में आये थे यह प्रक्रिया उन्होंने ऐतिहासिक संदर्भ में समझायी थी।

'बृहत् पिंगल' 700 पृष्ठों का महाग्रंथ है। सन् 1956 में इसे साहित्य अकादेमी का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इसके दो संस्करण हो चुके हैं। पंद्रह प्रकरण में विभाजित इस ग्रंथ में बीस परिशिष्ट समाविष्ट हैं। मराठी विद्वान पटवर्धन के ग्रंथ छंदोरचना के बाद यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गौरवग्रंथ है।

संस्कृत के वार्णिक और मात्रिक छंद तथा गेयता और लयात्मक पाठ से सम्बन्धित चार प्रकारों पर रा. वि. पाठक ने विस्तार से विचारविमर्श किया है। 'देशी' की चर्चा उनका निजी योगदान है।

'पिंगल के लिए इतना ही आवश्यक है कि अक्षरमात्रा के साथ कालमात्रा का किसी न किसी प्रकार का नियत सम्बन्ध होना चाहिए। उस नियत सम्बन्ध से, अक्षरविन्यास के आधार से ही हम संधि खोज पाते हैं।'

गांधीयुग के वरिष्ठ समीक्षक विष्णुप्रसाद त्रिवेदी ने रा. वि. पाठक की सूक्ष्म दृष्टि को उजागर करने कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जो सूचित करते हैं कि जातिछंद और देशी या पदों के छंदों में मूलत: भेद नहीं है, क्योंकि दोनों के मेल की बुनियाद संधियों के आवर्तन हैं। रा. वि. पाठक लिखते हैं :

"जब तक देशी के पठन से और वह भी एकाध पंक्ति के पठन से नहीं परन्तु सुदीर्घ पठन से अक्षरसंधि और इसके द्वारा जिसकी पूर्ति होती है वह कालमात्रासंधि प्रतीत हो तब तक मानना चाहिए कि यहाँ पिंगल का अनुशासन है।"

"देशी गेय हैं – पाठ्य हैं अत: पिंगल के तहत हैं। देशी गेय होने पर भी उनका प्रधान उद्देश्य पठन द्वारा उनका काव्यार्थ भावक के चित्त में संक्रान्त करना है, संगीत की चीज़ की तरह, चीज़ के अवलंबन से गीत के संस्कार जगाना नहीं।"

यह तथ्य सर्वस्वीकृत है कि छंदशास्त्र के क्षेत्र में रा. वि. पाठक की कई मौलिक उद्भावनाएँ हैं। साथ साथ व्यापकता भी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी गुजराती के छंदों के प्रकारों और रूपों की उन्होंने चर्चा की। इसके अतिरिक्त मौखिक परंपरा के गीतों में प्रयुक्त देशी लय, गज़ल एवं बीसवीं शताब्दी की गुजराती कविता के छंदविषयक प्रयोगों का भी निरूपण किया। इस कार्य की सराहना करते हुए डॉ. हरिवल्लभ भायाणी लिखते हैं :

"रणजितराम वावाभाई और के. ह. ध्रुव जैसे अंग्रेजी के विद्वानों ने मुख्यतया गुजराती को केन्द्र में रखकर हमारे छंदशास्त्र के विषय में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उस युग में प्राकृत–अपभ्रंश के पिंगल में तथा मराठी, हिंदी आदि के साहित्य के भी अध्ययन हुए। उनका समुचित लाभ लेकर रामनारायण पाठक ने इस विषय की मौलिक, नूतन विचारणा के आधार पर 'प्राचीन गुजराती छंद' तथा 'बृहत् पिंगल' जैसे ग्रंथों द्वारा अध्ययन की नई दिशाएँ खोलीं।" (पृ. 428, परिशीलन ग्रंथ)

रा. वि. पाठक ने पूर्ववर्ती विद्वानों के छंदविषयक कार्य को सही परिप्रेक्ष्य में रखते हुए इस क्षेत्र में नई पीढ़ी के विद्वानों को भी प्रवृत्त किया। उनमें से एक हैं डॉ. चिमनलाल त्रिवेदी। डॉ. त्रिवेदी ने समझाया है कि रा. वि. पाठक द्वारा प्रस्तुत चारों प्रकार के छंदों के वर्गीकरण में, दृष्टांत सहित परिभाषा देकर व्याख्या करने में, उनके लक्षण और खूबियाँ समझाने में क्या नया योगदान दिया है। डॉ. त्रिवेदी के सुदीर्घ लेख का अंश देखें :

"संस्कृत वृत्तों का और मात्रिक आदि अन्य छंदों का संयोजन कैसे होता है इसका पृथक्करण उन्होंने बड़ी बारीकी से किया है। असंख्य दृष्टांत एकत्रित करके उनकी जाँच–पड़ताल की है और वार्णिक छंदों में यह संयोग किस तरह प्रकट होता है यह खोजने का प्रबल पुरुषार्थ किया है। वार्णिक वृत्तों में लघुगुरु वर्णों को उनके नियत स्थान से तनिक भी इधर उधर करने पर वह वृत्त बदल जाता है। नये संयोजनवाला नया छंद बनता है। यह लघुगुरुक्रम कला की किसी गूढ आवश्यकता में से निष्पन्न होता है ऐसा पाठक साहब कहते हैं।

पाठक साहब छंदों के चारों प्रकारों का आरंभ में परिचय देकर प्रथम वैदिक छंदों का विश्लेषण करते हैं। वैदिक छंदों के नाप केवल अक्षरों की संख्या से तय होते थे। उनमें लघुगुरु का भेद नहीं था ऐसा बताते हैं। श्री संजाना इस राय से सहमत नहीं होते। वैसे,

पाठक साहब ने स्वीकार किया है कि वैदिक छंदों में आगे चलकर लघुगुरु का रूप स्थिर होता गया है।..... उन्होंने प्रचलित छंदों को ही मुख्य रूप से निरूपित किया है और 'कल्पित' वृत्तों को बहुत कम स्थान दिया है।'' (पृ. 431 , परिशीलन ग्रंथ)

× × × × ×

संदर्भ – सूची

रा. वि. पाठक की मौलिक, संपादित, अनुवादित पुस्तकें :

1. प्रमाणशास्त्र प्रवेशिका (सन् 1922)
2. गोविंदगमन (संपादन, नरहरि परीख के साथ, 1923)
3. काव्यसमुच्चय भाग–1,2 (संपादन 1924)
4. काव्यप्रकाश : उल्लास 1 से 6 (अनुवाद, रसिकलाल छो. परीख के साथ,1924)
5. धम्मपद (अनुवाद, धर्मानंद कोसंबी के साथ, 1924)
6. पूर्वालाप (कान्त की कविताओं का संपादन, द्वितीय संस्करण, 1926)
7. द्विरेफ की कहानियाँ भाग – 1 (1928)
8. काव्यपरिचय भाग 1,2 (संपादन, नगीनदास पारेख के साथ 1928)
9. चुंबन और अन्य कहानियाँ (अनुवाद, नगीनदास पारेख के साथ, 1929)
10. स्वैरविहार भाग – 1 (1931)
11. अर्वाचीन गुजराती काव्यसाहित्य (1933)
12. द्विरेफ की कहानियाँ भाग – 2 (1935)
13. नर्मदाशंकर कवि (1936)
14. स्वैरविहार भाग – 2 (1937)
15. शेष की कविताएँ (1938)
16. अर्वाचीन काव्यसाहित्य के प्रवाह (1938)
17. काव्य की शक्ति (1939)
18. साहित्यविमर्श (1939)
19. काव्यतत्त्वविचार (संपादन, उमाशंकर जोशी के साथ, 1939)
20. साहित्य विचार (संपादन, उमाशंकर जोशी के साथ, 1942)
21. द्विरेफ की कहानियाँ – भाग – 3 (1942)
22. हमारा धर्म (आनंदशंकर ध्रुव के ग्रंथ के तृतीय संस्करण का संपादन, विस्तृत प्रस्तावना के साथ, 1942)
23. दिग्दर्शन (संपादन, उमाशंकर जोशी के साथ, 1942)
24. आलोचना (1964)
25. नर्मद : अर्वाचीन गद्यपद्य का आद्य प्रणेता (संवर्धित संस्करण, 1945)

26. नित्य का आहार (1945)
27. विचारमाधुरी – 1 (संपादन उमाशंकर जोशी के साथ, 1946)
28. मुनशी सूक्तिसंचय (संपादन, वी. एन. भूषण तथा सीताराम चतुर्वेदी के साथ, 1947)
29. प्राचीन गुजराती छंद – एक ऐतिहासिक समालोचना (1948)
30. गुजराती पिंगल नई दृष्टि से (1952)
31. कवि श्री न्हानालाल स्मारक ग्रंथ (संपादन, रविशंकर म. जोशी तथा अन्य के साथ, 1953)
32. रास और गरबा (संपादन, गोवर्धन पंचाल के साथ, 1954)
33. साहित्यालोक (1954)
34. साहित्य सोपान भाग – 1,2,3 (शालेय संपादन, मनुभाई प्र. वैद्य और अन्य के साथ, 1954)
35. बृहत् पिंगल (1955)
36. मनोविहार (1956)
37. गुर्जर कहानी वैभव : 3, सामाजिक कथाएँ (संपादन, हीराबहन पाठक के साथ, 1956)
38. कुलांगार और अन्य कृतियाँ (1959)
39. विशेष कविताएँ (1959)
40. नभोविहार (1961)
41. आकलन (1964)
42. काव्यपरिचय (आस्वाद, नगीनदास पारेख के साथ, 1965)
43. मध्यम पिंगल (1980)
44. शरदसमीक्षा (1980)
45. रामनारायण वि. पाठक ग्रंथावलि : 1,2,3,4 (1990, 91)

संदर्भ ग्रंथ

1. रामनारायण वि. पाठक परिशीलन ग्रंथ (संपादक हीरा रा. पाठक, यशवंत शुक्ल, चिमनलाल त्रिवेदी, सुरेश दलाल, 1995)
2. रामनारायण वि. पाठक – चंद्रकान्त शेठ (1979)
3. रा. वि. पाठक : वाङमय प्रतिभा – कान्तिलाल कालाणी, 1981

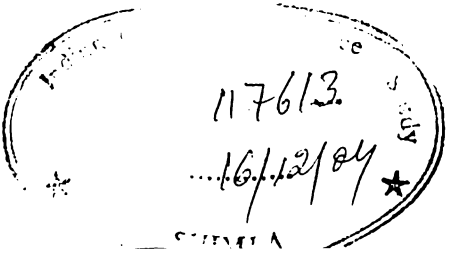

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का गुजराती साहित्य गांधीजी की जीवनदृष्टि और ब. क. ठाकोर की कलादृष्टि से प्रभावित है। ये दोनों महानुभाव सही परिप्रेक्ष्य में गुजराती साहित्य को उपकृत कर पाए इसमें एक तीसरे महानुभाव का भी योगदान है। वे हैं रा. वि. पाठक, जितने बड़े सर्जक उतने ही बड़े चिन्तक। हिन्दी समीक्षा और निबन्ध के क्षेत्र में जो स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है, ठीक वैसा ही स्थान गुजराती साहित्य में रा. वि. पाठक का है। उन्नीसवीं शताब्दी में नवलराम पंड्या थे; बीसवीं शताब्दी में रा. वि. पाठक। सभी साहित्यकार उन्हें समादर के साथ पाठक साहब कहते थे। वे कहानीकार, निबन्धकार, समीक्षक, कवि, छन्दशास्त्री होने के साथ विरल हास्यकार भी थे। सभी कलाओं तथा जीवनचिंतन के सभी पहलुओं के प्रति वे स्वभावत: अभिमुख थे। वे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे।

R. V. Pathak (Hindi), Rs. 25/-
ISBN : 81-260-1671-X

Library IIAS, Shimla
H 891.478 C 393 R
00117613

22 भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली साहित्य अकादेमी
विश्व की सबसे बड़ी प्रकाशन संस्था

Website : http://www.sahitya-akademi.org.